लोकतन्त्र
विकास और भविष्य

दादा धर्माधिकारी

सर्व सेवा संघ प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

प्रकाशक : मन्त्री, सर्व सेवा संघ,
राजघाट, वाराणसी-१

संस्करण : पहला

प्रतियाँ : २,०००; मार्च, १९६९

मुद्रक : विश्वनाथ भार्गव,
मनोहर प्रेस,
जतनबर, वाराणसी

मूल्य : रुपया २.००

Title : LOKTANTRA : VIKAS AUR BHAVISHYA

Author : Dada Dharmadhikari

Subject : Politics

Publisher : Secretary,
Sarva Seva Sangh,
Rajghat, Varanasi-1

Price : Rs. 2.00

प्रकाशकीय

आचार्य दादा धर्माधिकारी की यह एक नयी कृति पाठकों तक पहुँच रही है। दादा की अन्य कृतियों की तरह ही यह कृति भी चिन्तन की दृष्टि से अद्यतन, वैज्ञानिक और शास्त्रीय है। इसमें विद्वान् लेखक ने विश्व में लोकतन्त्र के उद्‌भव तथा विकास का ऐतिहासिक विश्लेषण करते हुए भारतीय लोकतन्त्र की स्थिति, भविष्य और महत्त्व पर अनेक पहलुओं से प्रकाश डाला है। लोकमान्य तिलक से लेकर विनोबा तक के राजनीतिक प्रयासों, अर्थात् राष्ट्रीय आन्दोलनों का विकास-क्रम बतलाते हुए गांधीजी की भूमिका भी स्पष्ट की है। जिन लोगों ने दादा के 'सर्वोदय-दर्शन', 'अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया', 'लोकनीति-विचार' आदि ग्रन्थ पढ़े हैं, वे समझ सकते हैं कि दादा ने लोकतन्त्र को कितनी पैनी और सूक्ष्म दृष्टि से देखा-परखा है।

सम्प्रदायवाद, जातिवाद, भाषावाद, प्रान्तवाद और राजनीतिक 'वाद' हमारे देश के कितने जहरीले और विनाशकारी तत्त्व हैं और विगत अनेक वर्षों से वे देश की एकात्मता को किस तरह कुरेद रहे हैं, इसका मार्मिक चित्रण आँखें खोल देता है।

दादा ने पिछले वर्ष राँची (बिहार) के एक शिविर में एक सप्ताह तक लोकतन्त्र के सन्दर्भ में जो विचार व्यक्त किये थे, उन्हींका यह संकलन प्रकाशित करते हुए हमें प्रसन्नता है ।

हमारा देश जिन विकट परिस्थितियों में से गुजर रहा है, वह लोकतन्त्र के विकास और उसकी रक्षा में रुचि रखनेवाले हम सबके लिए चिन्ता का विषय है । दादा की यह कृति देश के चिन्तन में सही दिशा का निदर्शन करने में निश्चय ही प्रेरक और सक्षम सिद्ध होगी ।

अनुक्रम

१. सत्य-निष्ठा १—६

आसुरी प्रयास १, सुसंगतता सत्यनिष्ठा के प्रतिकूल २, विचार के नाम पर अत्याचार ३, 'उपादान' या 'सिद्धान्त'? ३, दिल और दिमाग साबित रखें ४, विचार सत्यनिष्ठ रहे ४, संगठित धार्मिकता = सम्प्रदाय ५, गांधी : योगी नहीं, 'प्रयोगी' ५।

२. बुद्धि-निष्ठा ७—१४

विभिन्न प्रकार की सत्ताएँ ७, बुद्धि लिपटी न हो ८, प्रचार सत्यान्वेषण का साधन नहीं ९, कर्म-स्वातन्त्र्य : मनुष्य का गौरव ९, लोकतन्त्र की विशेषता ११, 'स्वदेशी' का व्यापक अर्थ १२, 'सर्वोदय' का आरम्भ १२।

३. क्रान्ति का अग्रदूत कौन बनेगा? १५—२०

परम सत्य : जीवन की एकता १५, क्रान्ति की मूल प्रेरणा १६, बीमारी की जड़ : ईर्ष्या १७, अन्तिम नियन्ता चेतन १८, जीवन अपने में प्रयोजन १८, क्रान्ति का अग्रदूत कौन होगा? १९, हृदय-परिवर्तन की क्रान्ति २०।

४. समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया २१—२९

जीवन की निरन्तर गतिशीलता २१, शिक्षण सहजीवन के लिए २२, निकटता हो, संघर्ष नहीं २२, क्रान्ति की प्रक्रिया में से शिक्षण २३, मार्क्स की देन २३, काम की प्रेरणा २५, क्रान्ति में बलप्रयोग पुरानी चीज २८, सत्याग्रह २८।

५. सत्याग्रह की विधायक भूमिका ३०—३९

बुराई का प्रतिकार? ३०, गांधी के सत्याग्रह में वीरता की प्रेरणा ३२, संहार नहीं, वीरता ३२, बहिष्कार ३३, गांधी का सत्याग्रह अधिक-से-अधिक वैज्ञानिक ३५, निःशस्त्रीकरण के साथ हृदय-परिवर्तन ३६, वीरता और सभ्यता ३७, शस्त्रनिरपेक्ष वीरता ३७, नैतिक दबाव क्षम्य ३८।

६. भारतीय राष्ट्रीयता का प्रश्न ४०—५१

एकात्मता थी, राष्ट्रीयता नहीं ४०, अंग्रेजों की देन ४१, धर्म के तीन अंग : अध्यात्म, ईश्वर, परलोक ४२, सम्प्रदायों में संघर्ष ४३, राममोहन राय के प्रयत्न ४४, थियॉसॉफिकल सोसाइटी ४५, सामुदायिक प्रार्थना ४६, सारे सम्प्रदाय परलोकवादी ४७, सम्प्रदाय की पहचान ४७, 'हिन्दू' की व्याख्याएँ ४८, कमजोरियों का इलाज ? ४९, भाषावाद की प्रतिक्रिया ५० ।

७. मानवनिष्ठ अर्थनीति ५२—७२

अमीरी का बोझ ५२, बेकारी और फुरसत ५३, शिक्षण और संयोजन ५४, बाजार ही बाजार ५५, कौटुम्बिक समाज ५६, समरसता की अनुभूति ५७, सह-उपभोग का मूल्य सांस्कृतिक ५७, विशेषज्ञता में समग्रता का अभाव ५९, शाश्वत अर्थशास्त्र ६०, सृष्टि के साथ सहयोग-दृष्टि ६०, यान्त्रिक-क्रान्ति और वैज्ञानिक समाजवाद ६१, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त ६२, पारस्परिकता का विकास ६३, उत्पादक श्रम की प्रतिष्ठा बढ़े ६५, काम और आराम का सामंजस्य ६६, मनुष्य-शक्ति का उपयोग ६७, नैसर्गिक शक्ति का उपयोग ६८, गाँव कैसा होगा ? ६८, औजार के प्रति आत्मीयता ६९, मेहनत इन्सान की, दौलत भगवान् की ७०, वसुधैव कुटुम्बकम् ७२ ।

८. लोकतन्त्र का भविष्य ७३—१०५

देशभक्ति और राष्ट्रीयता ७३, राष्ट्रीय जागृति का इतिहास ७४, राष्ट्रीय एकात्मता की सम्भावना ८४, राजनीति में सम्प्रदायवाद ८५, लोकतन्त्र का भविष्य ८६, लोकशाही ही श्रेयस्कर ८९, स्वतन्त्रता और समानता का विकास ९०, लोकतन्त्र और ग्रामदान-आन्दोलन ९२, लोकतन्त्र की इकाई मनुष्य ९३, सम्पत्ति और स्वामित्व का निराकरण ९४, ग्रामदान से लोकतन्त्र दृढ़ होगा ९५, लोकतन्त्र की बीमारियाँ ९६, विधायक पुरुषार्थ की प्रक्रिया ९८, भारतवर्ष की स्थिति ९९, हमारे संकल्प और सिद्धान्त १००, संयोजन गाँव का, विचार दिल्ली का १०१, हम प्रयोगशील रहें १०३ ।

लोकतन्त्र
विकास और भविष्य

: १ :

सत्य-निष्ठा

इस शिविर के उद्घाटन के अवसर पर सबसे पहले मैं निवेदन यह करना चाहता हूँ कि जो अध्ययन करना चाहते हैं, उनकी भूमिका जिज्ञासा की होनी चाहिए, इन्क्वायरी की भूमिका, क्वेश्चन की भूमिका। इसलिए यह नहीं मानना चाहिए कि हमें गांधी की कल्पना का समाज बनाना है, या दुनिया गांधी के रंग की बनानी है। एक मास्टरसाहब बच्चों को भूगोल पढ़ाते थे। अक्सर प्रश्न पूछते थे कि पृथ्वी का आकार कैसा है ? लड़का कुछ रुक जाता, जवाब नहीं दे पाता, तो अपनी सुंघनी की डिब्बी, नासदानी, दिखा देते। सुँघनी की डिब्बी गोल थी। डिब्बी देखकर लड़का कह देता, 'पृथ्वी गोल है।' एक दिन इन्स्पेक्टर-साहब आये। वह छुट्टी का दिन था, रविवार था। मास्टरसाहब हड़बड़ी में आये, लड़कों को भी इकट्ठा किया। अब, इन्स्पेक्टरसाहब ने पूछा, 'पृथ्वी का आकार कैसा है ?' लड़का रुक गया। मास्टरसाहब ने जेब में से डिब्बी निकाली। लेकिन छुट्टी के दिन मास्टरसाहब ने दूसरा कोट पहना था और इस कोट की जेब में जो डिब्बी थी, वह चौकोर थी। लड़के ने जवाब दिया, 'पृथ्वी और दिन गोल होती है, परन्तु रविवार के दिन चौकोर होती है।'

आसुरी प्रयास

आज हर विचार-वादी अपने आकार की दुनिया बनाना चाहता है। और मैं समझता हूँ, यह वृत्ति 'आसुरी' है। जो अपने विचार की दुनिया बनाना चाहता है, वह शैतान का काम करता है। हर डिक्टेटर (तानाशाह) यही करता है। कम्युनिस्ट डिक्टेटर यही करता है, नाजी डिक्टेटर यही करता है, फैसिस्ट डिक्टेटर यही करता है। और साम्प्रदायिक डिक्टेटर, जैसे पाकिस्तान में है, भी यही करता है। ये सब दुनिया को अपने विचार का बनाना चाहते हैं, मनुष्य को अपनी शक्ल का बनाना चाहते हैं। भगवान् ने मनुष्य को अपनी शक्ल का बनाया और अब मनुष्य भगवान् को अपनी शक्ल का बनाना चाहता है। रशियन भाषा में एक कहावत है, 'आप एक मनुष्य का सिर दूसरे मनुष्य के कंधों पर नहीं रख सकते।' आज क्या हो रहा है ? हम एक मनुष्य का सिर

सबके कंधों पर जड़ देना चाहते हैं। कोई मुहम्मद का सिर जड़ देना चाहता है, कोई ईसा का सिर जड़ देना चाहता है, कोई गीता का सिर जड़ देना चाहता है, कोई कुरान का सिर जड़ देना चाहता है। आप गांधी का सिर जड़ देना चाहते हैं। दोनों समान आसुरी प्रयास हैं। इसीमें से सम्प्रदाय बनता है।

सुसंगतता सत्यनिष्ठा के प्रतिकूल

विचार जब संगठित होता है, तब वह सम्प्रदाय बनता है। विचार जम जाता है, तब विचार की प्रगति कुंठित हो जाती है। इसीको लोग 'इज्म' कहते हैं। आज विचारों का, इज्म्स का, संघर्ष है। 'विचार' अर्थात् विचार की शक्ति, अपने में, मनुष्य की बुद्धि का विकास करती है। लेकिन विचारधारा, आयडियालॉजी से मनुष्य की सारी प्रौढ़ता, सभ्यता, पराभूत हो जाती है। इसलिए गांधी-शताब्दी के इस अवसर पर अगर हमको यथार्थ श्रद्धांजलि अर्पण करनी है, तो हम गांधी का अनुगमन न करें। दुनिया अगर गांधी की बनेगी तो मनुष्य की नहीं रहेगी; गांधीवादियों की दुनिया बनेगी। एंजल्स ने मार्क्स के बारे में लिखा है कि मार्क्स कभी 'मार्क्सिस्ट' नहीं था। और गांधी गांधी इसीलिए था कि वह 'गांधियन' भी कभी नहीं था। वह दूसरे किसीका भी अनुयायी नहीं था। हमको भी यही करना है। हमें अपने-आप ही रहना सीखना है। (वी मस्ट लर्न टु बी अवरसेल्व्स) बड़े-से-बड़े मनुष्य की नकल भी छोटे-से-छोटे असली मनुष्य से बदतर होती है। नकली गांधी से असली दादा धर्माधिकारी कई गुना बेहतर है। गांधी सत्यनिष्ठ था, और जो सत्यनिष्ठ होता है, वह विचारनिष्ठ नहीं होता। विचारनिष्ठ मनुष्य विचार में उलझा हुआ होता है। वहाँ विचार और वस्तु में अन्तर पड़ जाता है। हम विचार को पकड़ लेंगे, तो सत्य से विमुख हो जायेंगे। इमर्सन का वाक्य है : 'तंग दिल के और छोटी तबीयत के बौने आदमी सुसंगतता का हौआ बनाते हैं।' कल मैंने जो कहा था वही आज भी कहूँ, चाहे मेरा अनुभव और वातावरण बदल ही क्यों न गया हो—यह सुसंगतता सत्यनिष्ठा के प्रतिकूल है। गांधी सत्यनिष्ठ व्यक्ति था, इसलिए उसका अपना कोई तत्त्वज्ञान नहीं था। वस्तु के बारे में मेरे दिमाग में जो प्रतिक्रिया होती है, वह तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञान सत्य नहीं है, सत्य का प्रतिबिम्ब है। तत्त्वज्ञान की एक परिभाषा किसीने बतायी : 'एक अंधा आदमी अमावस की रात में अँधेरे कमरे में काली बिल्ली खोज रहा है, जो वहाँ है ही नहीं।' गांधी ने किसी विचार का पीछा कभी नहीं किया। इसलिए गांधी के व्यक्तित्व को पकड़ना बहुत मुश्किल है। गांधी का व्यक्तित्व 'चंचल' था, एलुसिव था।

'चंचल' शब्द न जँचता हो, तो 'गतिशील', 'नित्य-नूतन' कह लीजिए। इसलिए गांधी ने कहा था, मैं शुरू में कहता हूँ उसकी अपेक्षा बाद में जो कहता हूँ, वही सही मानो। मेरे पास विचार नहीं है, इसलिए सुसंगतता नहीं है। इसे सत्यनिष्ठा कहते हैं।

विचार के नाम पर अत्याचार

आज इस युग में जब कि विचारों का संघर्ष हो रहा है, युद्ध का देवता मार्स मानो सारी मानव-जाति को यंत्रणा दे रहा है। और यह यंत्रणा विचार के नाम पर दी जा रही है। विचार के नाम पर जितने अत्याचार मनुष्य ने किये हैं, और किसी वस्तु के नाम पर नहीं किये हैं। क्योंकि विचार के नाम पर अत्याचार करने में वह हिचकिचाता नहीं है। गांधी की हत्या गोड़से ने की। उन्हीं दिनों कांग्रेस-पार्टी के सामने एक सवाल यह भी था कि क्या हमारे संविधान में फाँसी की सजा रद्द की जाय? अनेक लोगों ने कहा, फाँसी की सजा साधारण हत्या के लिए तो रद्द हो सकती है, लेकिन जहाँ सिद्धान्तों के लिए हत्या की गयी हो, वहाँ फाँसी रद्द नहीं हो सकती। डीन इंज एक महान् विचारक था। उसका कहना था, जो साधारण अपराध करता है, उसका अपराध उतना भयानक नहीं होता, जितना कि लक्ष्य के लिए किया गया अपराध। यह एथिक्स ऑफ पनिशमेंट (सजा की नीति) है। इसलिए गांधी के हत्यारे को फाँसी होनी ही चाहिए।

'उपादान' या 'सिद्धान्त'?

आपने देखा न, अहिंसा कहाँ तक गयी। 'अहिंसा' का जब 'वाद' बन गया, तब मनुष्य की हत्या करनेवाले की भी हत्या होनी चाहिए, ऐसी माँग हुई। अहिंसा जीवन का उपादान नहीं रहा। अहिंसा सिद्धान्त बनी। रसेल ने एक व्यंग्यात्मक किस्सा कहीं लिखा है। दो टापू थे अगल-बगल में। एक में सारे शाकाहारी लोग रहते थे, दूसरे में सारे सामिषाहारी। दोनों में हमेशा झगड़ा चलता था। शाकाहारी लोग मांसाहारी लोगों से कहते थे, 'कैसे दुष्ट हो? अपना पेट भरने के लिए प्राणियों की हत्या करते हो।' एक दिन झगड़ा बढ़ गया, निरामिषवादियों ने सामिषभोजियों पर चढ़ाई की। सामिष-आहारियों में से बहुत-से लोग मारे गये। सवाल हुआ अब इन लोगों का क्या किया जाय? कहा गया लाशें खायी जायँ। इनकी जीव-दया कहती थी कि जो अपने खाने के लिए दूसरे प्राणियों को मारते हैं, उनको हम मार डालेंगे और जरूरत होने पर खा भी डालेंगे।

दिल और दिमाग सावित रखें

पंजाब में एक शहर में भाषण करने गया था। सभा के अध्यक्ष वहाँ के एक बहुत जाने-माने व्यक्ति थे। सभा काफी बड़ी थी, लोग शोर कर रहे थे। सभापतिजी खड़े होकर बोले, 'हिन्दुओ-बिन्दुओ, मुस्लिमो-चुस्लिमो, सिक्खो-मिक्खो, खामोशी से सुनिये। कोई जरा भी गड़बड़ करेगा तो यह मेरे हाथ में डंडा है। अब दादा धर्माधिकारी का अहिंसा पर भाषण होगा।' उस समय सभा में गांधी और अहिंसा के खिलाफ कोई बोल नहीं सकता था। घूँसे चलते थे। अहिंसा ने आतंक मचा दिया था। इसलिए मैंने निवेदन किया कि गांधी का कोई दर्शन, कोई वाद न बने। वह जिस दिन बनेगा, उस दिन लोग एक-दूसरे को चरखे के तकुवे से भोंकेंगे। ये चरखा-करघा, हँसिया-हथौड़ा उत्पादन के साधन हैं, औजार हैं; लेकिन दिमाग जब खराब हो जाता है, तब ये सब हथियार बन जाते हैं। गांधी ने इस चीज पर जोर दिया कि दिल और दिमाग सावित रखें। जो सत्यनिष्ठ होगा, उसीका दिल और दिमाग सावित रह सकता है।

विचार सत्यनिष्ठ रहे

दूसरे महायुद्ध के बाद मनुष्य के बौद्धिक क्षितिज पर विज्ञान का जीवन-व्यापी आविर्भाव हुआ। सारे जीवन को व्याप लेनेवाला साइन्स का ऐसा आविर्भाव पहले कभी हुआ नहीं था। नतीजा यह हुआ कि 'फेबल' और 'फॅन्सी' की जगह 'फैक्ट' आ गया, 'फेथ' की जगह 'रीजन' आया और 'मैजिक' की जगह 'लॉजिक' आ गया। बर्नार्ड शॉ ने एक दफा मजाक किया था। कहा, लोग धर्म [illegible]तना क्यों मानते हैं ? इसलिए कि धर्म एक ही झूठ हजारों सालों से दुहराता [illegible]है। विज्ञान तो अपना झूठ रोज बदलता जाता है। वस्तु का नया दर्शन [illegible] जाता है, वैसे-वैसे वह अपनी बात बदलता है। धर्म वस्तु-विमुख हो जाता [illegible] इसलिए लगातार वही झूठ कहता जाता है। अगर कोई एक ही बात [illegible]गातार दुहराता रहे, तो अन्त में उस पर लोग विश्वास कर लेते हैं। इसका नाम 'प्रोपेगेंडा', प्रचार है। सत्य का प्रचार नहीं होता कभी। सत्य और 'प्रोपेगेंडा' परस्पर-विरोधी शब्द-प्रयोग हैं। प्रचार यानी इश्तिहारबाजी, दूकानदारी। विचार के साथ जब ये जुड़ जाते हैं, तब विचार 'कमोडिटी', 'बेचने को चीज' बन जाता है। विचार को अगर कमोडिटी नहीं बनने देना है, तो विचार सत्यनिष्ठ रहना चाहिए। विज्ञान वस्तुनिष्ठ होना चाहिए। विचार और विज्ञान दोनों की युति का नाम समग्र जीवन है।

संगठित धार्मिकता = सम्प्रदाय

आज विज्ञान के युग में पहली खोज यह है कि क्या सत्यनिष्ठा और वस्तु-निष्ठा का संयोग हो सकता है ? इसका निश्चित सिद्धान्त नहीं बना है। वस्तुनिष्ठा विज्ञान है। सत्यनिष्ठा को आत्मज्ञान कहिये या और कुछ कहिये, सत्यनिष्ठा और वस्तुनिष्ठा की आत्मा जिज्ञासा है। यह 'जिज्ञासा' 'संशय' का पर्याय नहीं है। हेनिसन ने इसे आनेस्ट डाउट कहा है। संशयवाद तो स्केप्टिसिज्म है। आनेस्ट डाउट सिनिसिज्म भी नहीं है। सिनिसिज्म का मतलब है सार्वत्रिक अनास्था। सिनिक (संशयात्मा) वह है, जो हर चीज की कीमत तो जानता है, लेकिन किसीका मूल्य नहीं जानता, चीज की कद्र, प्रतिष्ठा नहीं करता। यह सार्वत्रिक नास्तिकता है। यह आनेस्ट डाउट, आनेस्ट क्वेश्चनिंग नहीं है। इसमें तटस्थता (ह्यूमिलिटी) नहीं है। आनेस्ट डाउट में कमिटमेंट नहीं होती। सत्यनिष्ठ बुद्धि अनाग्रही, अनकमिटेड होती है। इसीको शुद्ध बुद्धि कहते हैं। जिस बुद्धि में किसी विचार ने, तत्त्वज्ञान ने, आयडियालॉजी ने, घर नहीं किया हो, उसी बुद्धि में विचार करने की शक्ति रहती है। एक अंग्रेजी काव्य-पंक्ति है, 'संसार के सारे पुराने धर्मों ने अपनी-अपनी टिमटिमाती मोमबत्तियाँ जलायीं। तगड़े सत्य का एक झकोरा आया और वे सारी बुझ गयीं।' क्योंकि ये सब चिराग संगठन के रूप में थे। धार्मिकता जब संगठित हो जाती है, तब वह सम्प्रदाय बनती है।

विज्ञान के साथ वस्तुनिष्ठा आयी। अब जरूरत है सत्यनिष्ठा की। यह सत्य क्या चीज है ? विज्ञान यहाँ तक पहुँचा हो या नहीं, लेकिन मनुष्य को अनुभूति, उसका अपना प्रत्यय यहाँ तक पहुँच गया है कि जीवन एक है, उसमें विभाजन नहीं है। इसीलिए कुत्ते का, गधे का, दुख देखकर भी आँख में आँसू आ जाते हैं। सूअर का छोटा-सा बच्चा भी प्यारा लगता है। यह जीवन की एकता ही जीवन का परम सत्य है।

गांधी : योगी नहीं, 'प्रयोगी'

इस परम सत्य को जीवन के हर क्षेत्र में चरितार्थ करने के लिए गांधी ने जो प्रयोग किये, उन्हें उसने 'सत्य के प्रयोग' कहा। गांधी 'योगी' नहीं था, 'प्रयोगी' था। 'योग' में 'फायनालिटी' परिणति है। प्रयोग में परिणति नहीं है, एक्स-पियरिंसिंग है। अनुभव करने की क्रिया है।

विज्ञान के फलस्वरूप दूसरी और एक चीज हुई है। विज्ञान की गैल में टेक्नॉलॉजी आयी, तब से उद्योग और कला का तलाक हो गया है। आधुनिक

शिक्षण, विचार कर रहा है कि क्या इन दोनों का विवाह हो सकता है ? इनके विवाह का मुहूर्त आज है ।

एक तरफ उद्योग के विकास का प्रश्न है । दूसरी तरफ मनुष्य की चेतना का सवाल है । चेतना में संकेत होते हैं । ये संकेत कला और साहित्य में व्यक्त होते हैं । मनुष्य की उद्योगशीलता टेक्नॉलॉजी में अभिव्यक्त होती है । आज टेक्नॉलॉजी और संस्कृति इनका वियोग है । दोनों दो दिशाओं में जा रहे हैं । क्या इन दोनों का संयोग हो सकता है ? और इसके लिए साधारण मनुष्य के अनुरूप कोई विधायक पुरुषार्थ इसी युग में हो सकता है ?

राँची-शिविर
१०-५-'६८

: २ :

बुद्धि-निष्ठा

दूसरे महायुद्ध के बाद आज मनुष्य अपने को जिस परिस्थिति में पा रहा है, उस परिस्थिति का मैंने कल थोड़ा वर्णन किया। जो परिस्थिति दूसरे महायुद्ध के बाद संसार में पैदा हुई, उसकी विशेषता यह है कि जो सत्ता विशिष्ट लोगों के हाथ में थी, वह सत्ता अब सामान्य लोगों के हाथ में चली गयी है। विशिष्ट लोगों के लिए शब्द है, अरिस्टास। इस अरिस्टास के हाथ में से सत्ता डेमास के हाथ में आयी। अरिस्टास और डेमास में एक मूलभूत अन्तर है। अरिस्टास विशिष्ट मानवों का या मानव-वर्गों का पूजक होता है। इसे आलिगार्की भी कहते हैं। थोड़े मनुष्यों की सत्ता, विशिष्ट मनुष्यों की सत्ता। यह अरिस्टास साधारण मनुष्यों के साथ एकता का अनुभव नहीं कर सकता, उनके साथ समरस नहीं हो सकता। वह इतना ही मानता है कि साधारण मनुष्य के सुख की चिन्ता मैं करूँ, क्योंकि अपना हित साधारण मनुष्य पहचान नहीं सकता। इस प्रकार जो लोग समाज-हित की जिम्मेदारी अपनी मानते हैं, उन चुने हुए लोगों की, प्रवर, एलीट की सत्ता आलिगार्की कही जाती है। एक सूत्र है इस विषय में, जो संगठन की बात करता है, वह असल में विशिष्ट लोगों की सत्ता की ही बात करता है। संगठन में हमेशा विशिष्ट लोगों का ही वर्चस्व हो सकता है।

विभिन्न प्रकार की सत्ताएँ

अरिस्टाक्रॅसी कई प्रकार की होती है। अरिस्टाक्रॅसी ऑफ वेल्थ—आर्थिक विशिष्ट सत्ता। इस आर्थिक विशिष्ट सत्ता में से पूँजीवाद आया। दूसरी अरिस्टाक्रॅसी होती है उनकी विशिष्ट सत्ता, जो जन्म से विशिष्ट हैं, आलिगार्की ऑफ कास्ट। फिर आलिगार्की ऑफ कलचर। और एक वह विशिष्ट सत्ता होती है, जिसका उल्लेख प्लेटो ने 'रिपब्लिक' में किया है। दार्शनिकों की सत्ता। एक विशिष्ट सत्ता का उल्लेख आता है स्पार्टा में। लायकरगस ने राज्य की एक योजना बनायी थी। उसे पढ़ने से भ्रम होता है कि वह गांधीजी के विचारों से बहुत मिलती-जुलती है। इनके अलावा और एक भी अरिस्टाक्रॅसी ऑफ इन्टलेक्ट—जो बुद्धिमान् हैं, उनकी विशिष्ट सत्ता। बुद्धिमान् हमेशा बुद्धिनिष्ठ नहीं होता। बुद्धिनिष्ठा से मतलब है बुद्धि में विश्वास, अपनी बुद्धि में और दूसरे की भी बुद्धि में विश्वास। बुद्धिनिष्ठ केवल बुद्धिमान् नहीं है, बुद्धिजीवी

तो कतई नहीं है। बुद्धिजीवी वह है, जो अपनी बुद्धि का उपयोग अपनी सत्ता के लिए, अपने स्वार्थ, अपनी प्रतिष्ठा के लिए या अपनी आजीविका के लिए करता है। केवल बुद्धिमान् वह है, जो अपनी बुद्धि का अपने लिए या दूसरे के लिए उपयोग कर लेता है, लेकिन उसका भी अंतिम विश्वास बुद्धि में नहीं होता है। जिसका अंतिम विश्वास बुद्धि में है, वह बुद्धिनिष्ठ है। अपनी बुद्धि में जिसको विश्वास है वह बुद्धिमान् है, दूसरे की बुद्धि में भी जिसे विश्वास है वह बुद्धिनिष्ठ है। परिणाम यह होता है कि दूसरे की बुद्धि को तर्क से, युक्तिवाद से परास्त कर देना बुद्धिनिष्ठ नहीं चाहता। जो तर्क से, युक्तिवाद से दूसरे की बुद्धि को कुण्ठित करना चाहता है, वह बुद्धिवादी, बुद्धिद्रोही है। मनुष्य के बौद्धिक क्षितिज पर जब विज्ञान का आविर्भाव हुआ, तब तथ्य पर वह ज्यादा ध्यान देने लगा, फैन्सी और फेवल पर से उसका ध्यान हट गया। इसमें से एक नया 'वाद' निकला—बुद्धिवाद (रेशनलिज्म)।

बुद्धि लिपटी न हो

आज का युग इस बुद्धिवाद के बाद का युग है। बुद्धिवाद से सत्य के दर्शन नहीं होते। सत्य के दर्शन के लिए बुद्धिनिष्ठा की आवश्यकता है। बुद्धिनिष्ठ दूसरे की बुद्धि का विकास चाहता है। वह चाहता है कि दूसरे की बात समझने की कोशिश पहले करूँगा। बौद्धिक सहृदयता वही है, जहाँ दूसरे की बात समझने की तत्परता है। अपने को सामनेवाले की जगह रखने की कोशिश, उसके दृष्टिबिन्दु से देखने की कोशिश का ही नाम तटस्थता है, यही अनाग्रह है। जब मैं आपकी बात समझने की कोशिश कर रहा हूँ, तब यदि उसमें अपनी बात मिलाऊँ, आपकी बात का अपनी बात से मुकाबला करता जाऊँ, लगातार उसका जवाब खोजता चला जाऊँ, तो वह आपकी बात समझने की कोशिश नहीं होगी। यह बौद्धिकता नहीं है, बुद्धिनिष्ठा तो है ही नहीं। खुला चित्त (ओपेन माइण्ड) वह है, जिसमें कोई विचार भरे न हों। दूसरे की बात समझने के लिए कोरा दिमाग चाहिए। बुद्धि कहीं लिपटी हुई न हो। इस तरह की बुद्धि में सत्य के दर्शन की क्षमता आती है। असल में सत्य का दर्शन बुद्धि का विषय नहीं है, लेकिन अध्ययन के लिए जिस शक्ति की जरूरत होती है, वह शक्ति ऐसी बुद्धि में आ जाती है। यही विनय है। 'तद् विद्धि प्रणिपातेन ..... ।' प्रणिपात से मतलब यह नहीं कि चरण छूओ और अपना मन विचारों से भरा हुआ रहने दो। 'प्रणिपातेन' का अर्थ है 'खुले दिल से', 'मुक्त चित्त से'। अपनी बात समझाने के पहले दूसरे की बात समझने की कोशिश करो।

प्रचार सत्यान्वेषण का साधन नहीं

लेकिन बौद्धिक-सत्तावादी यह मानता है कि साधारण मनुष्य अपने सुख-दुःख की बात नहीं सोच सकता, इसलिए उसके सुख-दुःख की बात मैं सोचूँगा और जो मैं सोचूँगा वह उससे मनवाऊँगा, डंडे से नहीं, प्रचार से। इसलिए मैंने कहा था कि प्रचार सत्यान्वेषण का साधन नहीं है। जब मैं अपनी बात मनवाना चाहता हूँ, तो उसका प्रचार करता हूँ। इसे 'इनडाक्ट्रनेशन' (दूसरों में अपने विचार ठूँसने की प्रक्रिया) कहते हैं। साधारण मनुष्य मेरे विचारों से भर जाता है, तब मैं खुश हो जाता हूँ। इसका एक उपाय भी निकला है। ब्रेन वाशिंग। आपका दिमाग पहले खाली कर देता हूँ और फिर उसको मैं अपने विचारों से भर देता हूँ। यह प्रचार से भी होता है, फुसलाने से भी होता है और रासायनिक प्रक्रिया से भी हो सकता है। सबसे ज्यादा ब्रेन वाशिंग दुनिया में धर्म ने किया है। धर्म ने तो मनुष्य की शकल को ही बनाया है। मनुष्य की पोशाक पर से, केश-रचना पर से आप कह सकते हैं कि यह मनुष्य अमुक धर्म का है। सेना में तो यह चीज बाद में आयी और वह भी धर्म के अनुकरण में से आयी। फिर भी सेना का सिपाही जब वर्दी पहना हो, तभी आप कह न सकेंगे कि यह सिपाही है, वर्दी उतारने के बाद आप कह नहीं सकेंगे कि सिपाही है। लेकिन धर्म ने तो मनुष्य को चौबीसों घंटे वर्दी पहनायी है। इतना भयानक 'रेजिमेंटेशन' धर्म ने मनुष्य का किया है।

कर्म-स्वातन्त्र्य : मनुष्य का गौरव

अब हम यहाँ पहुँचे हैं कि विज्ञान के युग में मनुष्य के दिमाग पर किसी प्रकार की सत्ता नहीं चलेगी। धर्म, सम्प्रदाय, गुरु, संस्था किसीकी सत्ता नहीं चलेगी। इतना ही नहीं, भगवान् की भी सत्ता मनुष्य के दिमाग पर नहीं चलेगी। इसलिए नहीं चलेगी कि हमारे भले-बुरे कामों की जिम्मेवारी भगवान् लेने के लिए तैयार नहीं है। मुझे चोट लगती है। मैं अगर कहूँ कि भगवान् की कृपा से चोट लगी, तो ईश्वरपरायण लोग कहेंगे कि इसके लिए भगवान् जिम्मेवार नहीं है। तुम्हारा कर्म ही जिम्मेवार है। 'मेरा कर्म कहाँ से आया ?' इसका जवाब किसी धर्म के पास नहीं है। मनुष्य अपने कर्म के लिए जिम्मेवार है, यही उसकी मनुष्यता है, यही उसकी स्वतंत्रता है। भगवान् भी मनुष्य को उसके कर्म के लिए जिम्मेवार मानता है। योरप में आधुनिक जमाने से दार्शनिकों का एक नया सम्प्रदाय एक्जिस्टनालिज्म (अस्तित्ववाद) नाम से चल रहा है। इनमें से एक दार्शनिक सार्त्र कहता है—'हमारे विश्वधर्म की पहली धारा यह है कि मनुष्य अपने जीवन के लिए जिम्मेवार है। वह जैसा बनना

चाहेगा, वैसा बनेगा।' यह मनुष्य और पशु में अन्तर है। पशु और देवता भोगयोनि हैं। ये दोनों अपने भाग्य को बदल नहीं सकते। कर्म-स्वातन्त्र्य इन्हें नहीं है। कर्म-स्वातन्त्र्य मनुष्य को है। इसलिए मनुष्य अपने कामों के लिए जिम्मेवार है। और यही मनुष्य का गौरव भी है।

खालिस मनुष्य की—सत्ता-निरपेक्ष, शस्त्र-निरपेक्ष, सम्पत्ति-निरपेक्ष, जन्म-निरपेक्ष—प्रतिष्ठा जीवन का एक मूल्य है। इसके विषय में कहा गया है कि मनुष्य की प्रतिष्ठा का संरक्षण अल्कोहल में नहीं किया जा सकता। मनुष्य अपने कर्म के लिए जिम्मेवार है, यही उसकी प्रतिष्ठा है। लेकिन जो एलिट (प्रवर) थे, उन्होंने सारे मनुष्यों के जीवन के लिए अपने को जिम्मेवार माना। आवश्यकता यह है कि मनुष्य एक-दूसरे के जीवन के लिए जिम्मेवार रहें। इसे सामाजिकता कहते हैं। ओल्ड टेस्टामेन्ट में आदम के दो पुत्रों का जिक्र आता है। एक था केन और दूसरा अबेल। केन अपने भाई को मार डालता है। आदम केन से पूछता है—तुम्हारा भाई कहाँ है? केन कहता है—क्या मैं अपने भाई का रखवाला हूँ? इसमें से सामाजिकता नहीं आती। सामाजिकता किसे कहते हैं? हर मनुष्य अपने भाई का, अपने पड़ोसी का रखवाला है। मैं आपका रखवाला हूँ, आप मेरे रखवाले हैं। दोनों का रखवाला पुलिस नहीं है। हमारा कोई गार्डियन, अभिभावक नहीं है। प्रिन्स क्रोपाटकिन ने इसे अनकाँशस म्युच्युआलिज्म कहा। इस प्रकार की सहज 'पारस्परिकता' की आवश्यकता है। लेकिन इस दिशा में पहला कदम यह है कि मेरे जीवन के लिए जिम्मेवार मैं हूँ और साथ-साथ आपके जीवन के लिए भी जिम्मेवार हूँ। डार्विन ने स्ट्रगल फार एक्जीस्टन्स का उल्लेख किया है। डार्विन अन्त में यहाँ पहुँचा कि जैसे-जैसे मनुष्य की प्रगति होगी, उसका स्वार्थ व्यापक होता जायगा। और अन्त में व्यक्ति के स्वार्थ और मानव-जाति के स्वार्थ में अन्तर ही नहीं रहेगा। दूसरे के लिए जीना भी जीवनार्थ संघर्ष का ही हिस्सा है। यह समाज-विज्ञान का एक सिद्धान्त है। एक और भी सिद्धान्त समाज-विज्ञान में आया है। हर आदमी अपना-अपना सुख चाहेगा तो सभी आदमी सुखी हो जायेंगे। देखने में तो यह ठीक लगता है, लेकिन यह अप-सिद्धान्त है। गणित की भाषा में यह इस तरह से लिखा जायगा—अ + ब + क = अबक। सब मनुष्यों के सुख का जोड़ ही समाज का सुख है। इसे 'उपयोगितावाद' कहते हैं। ज्यादा-से-ज्यादा लोगों का ज्यादा-से-ज्यादा सुख। अगर यह गलत है तो फिर क्या हो? एक-दूसरे का सुख देखो तो सबका सुख सिद्ध होगा। तो, तिलक की मृत्यु पर गांधी ने एक वाक्य [illegible]ा था, 'बहुमत की सत्ता में लोकमान्य का इतना अधिक विश्वास था कि

मैं डर जाता था।' मनुष्य की प्रतिष्ठा किस चीज में है ? समाज में अल्पसंख्यक हमेशा सुखी होने चाहिए। अल्पसंख्यकों का सुख और स्वतंत्रता समाज-स्वास्थ्य का प्रधान लक्षण है।

जेम्स स्टुअर्ट मिल का और एक महान् सिद्धान्त है। मान लीजिये, एक मनुष्य एक तरफ है और सारी मनुष्य-जाति दूसरी तरफ है। तब भी सारी मानवता को उस एक मनुष्य की आवाज दबा देने का कोई अधिकार नहीं है। एक मनुष्य में अगर यह शक्ति हो कि वह सारी मनुष्य-जाति को दबा सके, तो भी उसे वह अधिकार नहीं है, उसी तरह सारी मनुष्य-जाति को मिलाकर भी यह अधिकार नहीं है कि वह एक मनुष्य को दबा दे। इसे मनुष्य की स्वतंत्रता कहते हैं। उसकी बौद्धिक स्वतंत्रता कहते हैं। इसमें मनुष्य की प्रतिष्ठा है। वालटेअर ने एक से कहा था, 'तू जो कह रहा है वह बिलकुल गलत है, लेकिन वह बात कहने का अधिकार तुझे है, और तेरे इस अधिकार के लिए मैं अपनी जान देने को तैयार हूँ।

लोकतन्त्र की विशेषता

बहुसंख्या की सत्ता मानवीय प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं है। मानवीय प्रतिष्ठा के अनुकूल है अल्पसंख्या की स्वतंत्रता। रोमन कैथालिक चर्च में एक अधिकारी होता है, शैतान का वकील, 'एडवोकेट्स डायाबोली'। चर्च तो भगवान् का दरबार है। इसमें विरोधी पक्ष का वकील कौन होगा ? वहाँ शैतान को भी अपनी बात रखने का अधिकार होना चाहिए। जिसका वकील न हो, सरकार उसे वकील देती है। जहाँ विचार की स्वतंत्रता होगी, वहाँ आफिशियल अपोजिशन (अधिकृत विरोधी पक्ष) होना ही चाहिए। इसलिए लोकतंत्र में आफिशियल अपोजिशन होता है। डिमाक्रेसी इज गवर्नमेंट वाइ डिसकशन। समझने और समझाने से जो राज चलता है, उसका नाम लोकतंत्र है। बहुसंख्या की सत्ता का नाम लोकतंत्र नहीं है। अल्पसंख्या की स्वतंत्रता और सुरक्षितता लोकतंत्र की विशेषता है।

अब सत्ता विशिष्ट लोगों के हाथ में से साधारण लोगों के हाथ में आयी है। यह साधारण मनुष्य (डिमोज) कौन है ? यह वह मनुष्य है, जो अपने कामों के लिए, भले-बुरे कामों के लिए जिम्मेवार है। वह बेवकूफ हो, अज्ञ हो, जाहिल हो, लेकिन मनुष्य है। बस, इतना काफी है। मनुष्य की मनुष्यता ही उसकी स्वतंत्रता की पात्रता है। लोकमान्य ने कहा था न, कि स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है। अधिकार में दो चीजें आती हैं इच्छा और पात्रता। योग्यता और अस्तित्व। **स्वतंत्रता की आकांक्षा ही स्वतंत्रता की पात्रता है।** यह जो

साधारण मनुष्य डेमास है, उसका आज स्वरूप क्या है ? आज वह अजस्रता, प्रचंडता, आकार का पुजारी बन गया है। भीड़ की सनक ही आज अंतिम निर्णय है। और यह भीड़ क्या है ? वह अव्याख्येय। मनुष्यों के उस समुदाय का नाम भीड़ है, जिसमें सिर ही सिर हैं, लेकिन दिमाग नहीं है। सीने ही सीने हैं, लेकिन हृदय नहीं है। भीड़ अव्यक्त है। उसमें 'मास' हैं, मनुष्य नहीं है। भीड़ मनुष्यता का एक गोला है, गिल्टी है। ऐसे भीड़ की सत्ता और शासन डेमास की सत्ता और शासन नहीं है। डेमास व्यक्ति है, झुंड, समूह, डेमास नहीं है।

'स्वदेशी' का व्यापक अर्थ

इस अर्थ में गांधी मनुष्य का पुजारी था। निरुपाधिक मानव, जिसके पीछे कोई उपाधि नहीं है ऐसे साधारण मनुष्य की सत्ता, ऐसे मनुष्य का तंत्र, गांधी चाहता था। तो, इस साधारण मनुष्य का तंत्र क्या है ? गांधी ने एक दफा कहा था, वह दिन मैं देखना चाहता हूँ, जब भंगी की लड़की प्रधान-मंत्री बन गयी होगी। भंगी की लड़की में इतनी योग्यता होगी और उसे वह अवसर प्राप्त होगा। यह कैसे होगा ? एक शब्द गांधी ने दिया—'स्वदेशी'। शब्द तो पुराना ही था, लेकिन उसमें गांधी ने नया अर्थ भर दिया। स्वदेशी का अर्थ गांधी ने किया पड़ोसियत, प्रतिवेशीधर्म। गांधी भाषाशास्त्री नहीं था, लेकिन उसका चित्त शुद्ध था। उस शुद्ध चित्त में से अचूक शब्द निकल आता था। तो, यह पड़ोसी कौन है ? ईसा ने कहा था, अपने-आपको जिस तरह प्यार करते हो, उसी तरह ही अपने पड़ोसी को प्यार करो। पूछा गया, 'मेरा पड़ोसी कौन है ?' जवाब में ईसा ने समरिटन का किस्सा सुना दिया था। 'जो दलित हो, दुखी हो, पीड़ित हो, वह तेरा पड़ोसी है।' इसमें से शब्द आया 'दरिद्रनारायण'। शब्द तो विवेकानन्द का था, लेकिन गांधी यह जानता नहीं था। तो, यह जो दरिद्रनारायण है, वह मेरा पड़ोसी है। यह दरिद्रनारायण भारत में हो तो मेरा पड़ोसी है, अफ्रीका में हो तो भी मेरा पड़ोसी है और नोआखाली में हो तो भी मेरा पड़ोसी ही है। वह स्वदेशी है।

'सर्वोदय' का आरम्भ

इसी विचार में से वह 'अन्त्योदय' शब्द आया। स्वदेशी का अर्थ यह हुआ न, कि सारे मानव मेरे पड़ोसी हैं, लेकिन यह जो पीड़ित, दलित है, वह मेरे ज्यादा नजदीक है। रस्किन की किताब 'अन्टु दिस लास्ट' का अनुवाद पहले 'अन्त्योदय' में किया। कहा, 'अन्त्योदय'। बाद में परिष्कृत शब्द निकला 'सर्वोदय'। जो सबसे नीचे है, उसका उद्धार यदि हो जाता है तो सर्वोदय हो

जाता है । 'सवार नीचे, सबार पीछे, सब हारादेर माझे', गुरुदेव का वाक्य है । गांधी ने कहा, अन्त्योदय ही सर्वोदय है । 'सर्व' शब्द सर्वनाम है । जो किसी भी 'नाम' की या 'संज्ञा' की जगह लेता है, वह है सर्वनाम । सर्व शब्द के संस्कृत में दो अर्थ हैं, सब और विश्व । इसलिए सर्वनाम कहिये या विश्वनाम कहिये । यही कारण है कि जो परमतत्व है, उसके लिए संस्कृत भाषा में नाम नहीं है । उसे 'तत्' कहते हैं । तो सर्वनाम ही विश्वनाम है । इसलिए सर्वोदय विश्वोदय ही है । सर्वोदय का आरम्भ अन्त्योदय से होता है । कुछ लोगों का कहना है कि सर्वोदय शब्द पुराने जैन-साहित्य में आया है । लेकिन गांधी का 'सर्वोदय' नया ही था । उस शब्द का पुनःसंस्करण हुआ तो वह नया ही शब्द बन गया ।

अलबर्ट स्वाइट्जर का नाम आपने सुना है । इसके व्यक्तित्व में जीवन के बहुत से पहलुओं का एक साथ विकास हुआ था । वह संगीतज्ञ भी था, चित्रकार भी था, डॉक्टर, साहित्यिक, तत्त्वज्ञानी था । उसका एक शब्द है, 'रेव्हरेन्स फार लाइफ' जीवन के लिए आदर, प्रतिष्ठा । जीवन के लिए आदर ही जीवन का परम सत्य है । जीवन की प्रतिष्ठा जब मनुष्यों के सम्बन्धों में चरितार्थ होती है, तब उसका नाम है सर्वोदय । सर्वोदय शब्द गांधी के समग्र जीवन का द्योतक है । गांधी को सत्य का जीवन में जितना दर्शन हुआ, वह 'सर्वोदय' में व्यक्त हुआ । जीवन की एकता ही अगर सत्य है तो जीवन की प्रतिष्ठा भी सत्य है । साधारण मनुष्य के जीवन की प्रतिष्ठा या उदय गांधी चाहता था । साधारण मनुष्य की सत्ता का क्या अर्थ है ? 'सत्ता' से मतलब है, मनुष्य का ऐसा अस्तित्व, जिसका बोध दूसरों को हो । 'इफेक्टिव एक्जिसटेन्स' एक के अस्तित्व का प्रभाव दूसरों के जीवन पर पड़े, यानी सबका एक-दूसरे के जीवन पर पड़े ।

ऐसी लोकसत्ता के लिए दूसरे महायुद्ध के बाद अवसर उपस्थित हुआ है । दूसरे महायुद्ध के बाद पहली बात यह हुई कि राजदंड (सेपटर) डेमास के हाथ में आया । दूसरी चीज यह हुई कि निरक्षरता कम होने लगी । कम-से-कम पश्चिम में तो निरक्षरता है ही नहीं । साधारण मनुष्य दुनियाभर में साक्षर होने लगा । और साथ-साथ साधारण मनुष्य का क्षितिज, उसका दर्शन भी व्यापक होने लगा है । स्थान और काल के बारे में उसकी मर्यादाएँ व्यापक होने लगी हैं । उसकी कल्पनाओं में परिवर्तन हुआ है । आज इस देश का हर कोई आदमी चाहता है अमेरिका जाने का मौका मिलना चाहिए । राँची का विद्यार्थी दिल्ली जा सकता है तो अमेरिका भी जा सकता है, और अमेरिका का यहाँ आ सकता है । विज्ञान के ये कुछ ऐसे उपकार हैं, जिनका हमें संरक्षण करना चाहिए । स्थान के साथ-साथ समय की भावना भी बदल गयी है ।

मनुष्य की कल्पना विशाल बनी है। उसका दिल और दिमाग भी फैल गया है। इसको सोचने की आवश्यकता इसलिए है कि अब तक हम जिस संस्कृति की बात करते हैं, उसका मेल आधुनिक मनुष्य के हृदय के साथ नहीं बैठता है। अब धर्म के विषय में मनुष्य के मन में प्रश्न नहीं, शंका होने लगी है। हर युद्ध के बाद यों तो ऐसा होता ही है। और क्यों न हो ? जिस भगवान् को उसने निष्पक्ष, न्यायी माना, दयामय, करुणामय माना, उस भगवान् की दुनिया में इतनी अराजकता कैसे होती है ? इस विकल्प की अवस्था में आज मनुष्य है। इस विकल्प में से खुराफात क्यों निकलती है ? इसका एक कारण तो यह है कि अमेरिका और योरप में फुरसत बहुत बढ़ी है। हमारा जो खाली समय होता है, अवकाश का समय होता है, उसका प्रतिबिम्ब हमारे व्यवहार में, हमारी क्रिया में पड़ता है। आज कहीं फुरसत है, कहीं बेकारी है। ऐंन आइडल मैन्स ब्रेन इज द डेविल्स वर्कशाप—जिसके पास खाली समय है, वह बैठे-बैठे खुराफात सोचता रहता है। इसलिए मनुष्य की धर्म के विषय में आस्था शिथिल हो गयी है। ऐसी अवस्था में से हमको निरुपाधिक मानव की प्रतिष्ठा की स्थापना की तरफ बढ़ना है।

राँची-शिविर
११-५-'६८

: ३ :

क्रान्ति का अग्रदूत कौन बनेगा ?

अभी मित्रों से चर्चा चल रही थी। सत्य का प्रचार नहीं होगा तो सत्य के बारे में मेरे जो अनुभव हैं, उनसे लोगों को अवगत कैसे कराया जायगा ? और क्या यह भी सम्भव है कि सबको सत्य के दर्शन हों ? इसमें थोड़ी उलझन मालूम होती है। मेरा जो दर्शन है, उसको मैं सत्य कहता हूँ। आपका जो दर्शन है, उसे आप सत्य कहेंगे। तो इस प्रकार से ये पाँच-पचास दर्शन हो जायेंगे। मेरे सत्य का मैं प्रचार करूँगा और आपके सत्य का आप प्रचार करेंगे। तो अन्त में शेष रहेंगे आप और मैं। सुख-दुःख की तरह क्या सत्य भी शेअर किया जा सकता है ? सत्य की अनुभूति होती है। अनुभूति का प्रचार कैसे किया जा सकता है ? सत्य के दर्शन को आपने बाह्यज्ञान (नॉलेज) माना है। बाहरी ज्ञान का प्रचार हो सकता है। प्रचार उस चीज का हो सकता है, जिस चीज को मैं दूसरे के गले उतारना चाहता हूँ। सत्य की खोज में मैं दूसरे की बात समझने की कोशिश करूँगा। उसमें से जो सत्य का दर्शन होगा, उसका प्रचार करने की जरूरत नहीं रहेगी। प्रचार सत्य का नहीं, विचार का हो सकता है। विचार तो बदलता है। वस्तु के विषय में आपकी जो स्मृति होती है, उसमें से विचार पैदा होता है। और फिर हम कहते हैं कि मौलिक विचार है। लेकिन विचार सत्य नहीं है। जीवन का मौलिक सत्य, जिस सत्य के बारे में कोई भ्रम नहीं है, वह सत्य है जीवन की एकता।

जीवन की एकता में यह निहित है कि विषमता नहीं रहेगी। जीवन की यह एकता सामाजिक सम्बन्धों में चरितार्थ करने के लिए हमारी खोज चल रही है।

परम सत्य : जीवन की एकता

अब यह समाज क्या है ? व्यक्तियों के जोड़ का नाम समाज नहीं है। मनुष्यों के सम्बन्धों का नाम समाज है। और यही जीवन है। सामाजिकता और जीवन एक ही चीज है। सम्बन्धों के बिना जीवन असम्भव है। यही मनुष्य का स्वभाव भी है। इस सामाजिकता के विकास में कौन-से प्रतिबन्ध आते हैं ?—सत्ता, सम्पत्ति, सम्प्रदाय। ये मनुष्य को मनुष्य से अलग करते हैं।

राजनीति, धर्म, अर्थ इत्यादि के कारण जो सम्बन्ध आते हैं, वे औपाधिक सम्बन्ध हैं। सामाजिकता के लिए निरुपाधिक सम्बन्धों की जरूरत है। कुछ औपचारिकता, कुछ शिष्टाचार, मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार में जरूर रहेंगे। जैसे उठने-बैठने के नियम, खाने-पीने के नियम। लेकिन खाने में मूल नियम क्या है ? दूसरों को शामिल किये बिना खाने में मजा नहीं आता। यह मनुष्य की मूलभूत संस्कृति है। परम सत्य है जीवन की एकता। इस जीवन की एकता को हम अपने जीवन में, यानी पारस्परिक सम्बन्धों में, उत्तरोत्तर चरितार्थ करना चाहते हैं। यही सदाचार है, यही नीति है। जो आचरण इसके अनुकूल है वह सदाचार है, जो प्रतिकूल है वह दुराचार।

क्रान्ति की मूल प्रेरणा

अब, जहाँ स्वार्थों का टकराव है, वहाँ जीवन की एकता की तरफ कदम कैसे बढ़े ? इस टकराव में से सबका सुख कैसे साध्य किया जा सकता है ? समाज में जिनका व्यवसाय एक-दूसरे के सुख का विरोधी है, उनका विकास क्या साध्य किया जा सकता है ? लेकिन ऑल अॅडवान्स इज ऍन अप्रोच टुवर्ड्स वन अनदर—मनुष्यों का एक-दूसरे की तरफ बढ़ना ही विकास है, प्रगति है। स्वार्थों का टकराव एक ऐसी चीज है, जो मनुष्यों को एक-दूसरे से दूर करती है। मनुष्यों को एक-दूसरे से दूर करनेवाली सारी चीजों को हमें दूर करना है। मनुष्यों को एक-दूसरे के निकट लानेवाली सारी चीजें हमें करनी हैं। आज समाज में बहुसंख्य लोग एक तरफ हैं, अल्पसंख्य दूसरी तरफ। इन दोनों को हम निकट लाना चाहते हैं। हम इसमें अपना सुख समझते हैं या नहीं, यह अलग बात है। यह विचार सब्जेक्टिव है, हमारी भावना पर निर्भर है। लेकिन बहुसंख्य और अल्पसंख्य, दोनों की दृष्टि से जो सामान्य विचार है, उसके अनुरूप यह परिवर्तन हम करना चाहते हैं। पहली बार जब अस्पृश्यता-निवारण का संकल्प हुआ, तब मैं चुनाव में खड़ा हुआ। मेरे घर के कुछ लोग दकियानूसी, जीर्णमतवादी थे। उन्होंने मुझसे कहा, तुम लोगों का प्रतिनिधित्व करना चाहते हो, इसलिए यदि अस्पृश्यता-निवारण करना है तो तुम्हें लोगों से पूछना चाहिए कि वे इसे पसन्द करते हैं या नहीं। मैंने कहा, मैं ब्राह्मणों से यह नहीं पूछूँगा कि वे अस्पृश्यता-निवारण चाहते हैं या नहीं। माली, कोरी, नाई, धोबीइन सबसे पूछूँगा कि वे ब्राह्मणों के साथ बैठना चाहते हैं या नहीं। वे अगर हाँ कहते हैं, तो मैं मानूँगा कि अस्पृश्यता-निवारण ये लोग चाहते हैं। क्रान्तिकारी अपने से ऊपरवालों की तरफ नहीं देखते, नीचेवालों की तरफ देखते हैं। क्रान्तिकारी जब अपने से ऊपरवालों की तरफ देखते हैं, तो मत्सर पैदा होता है। वास्तविक

क्रान्ति की प्रेरणा हमेशा नीचेवालों को देखकर ही होती है। क्रान्ति की मूल प्रेरणा द्वेष की नहीं, मानवीय सहानुभूति की होती है। उसमें जब मत्सर, द्वेष आदि विकार पैदा होते हैं, तब क्रान्ति नष्ट होती है।

बीमारी की जड़ : ईर्ष्या

क्रान्ति की प्रेरणा जब मानवीय सहानुभूति की होगी, तो समाज में जो सुखी, सम्पन्न और प्रतिष्ठित हैं, उनकी तरफ से हमारा रुख बदल जायगा। गरीब की गरीबी भी बीमारी है, अमीर की अमीरी भी बीमारी है। इन दोनों में अन्तर क्या है ? एक बीमार अपनी बीमारी से छुटकारा चाहता है। दूसरा बीमार छुटकारा नहीं चाहता है। बीमारी क्यों है ? जो अमीर है, वह भी अपने से ऊपरवाले अमीर से ईर्ष्या करता है। तब वह भूल जाता है कि जब तक अमीरों की संख्या थोड़ी है, तभी तक अमीरी टिक सकती है। अमीरों की संख्या ज्यादा होगी तो अमीरी समाप्त हो जायगी। अमीरी की यह शर्त है कि अमीरों की संख्या कम हो। आज के पूँजीवादी राष्ट्रों में विषमता है, लेकिन सम्पन्नता भी है। वहाँ अमीरी इने-गिने व्यक्तियों तक सीमित है। फिर भी वह सारे राष्ट्र में काफी हद तक फैल गयी है। इसलिए पूँजीवादी राष्ट्रों में कम्युनिज्म जा नहीं सका। लेकिन पूँजीवाद को भी अपनी भूमिका बदलनी पड़ी। मालिकी का विभाजन होने लगा। असल में होना यह चाहिए था कि एक ही पूँजीवादी रहे और वह अधिकाधिक सम्पन्न बनता जाय। **सीमित साझेदारी जब सार्वत्रिक बन जाती है, तब समाजवाद आ जाता है।**

यह भूमिका का प्रश्न है। भूमिका और मनोवृत्ति में अन्तर है। दूसरे महायुद्ध के पहले इंग्लैंड साम्राज्यवादी देश था। लेकिन दूसरे महायुद्ध में वह हिटलर के खिलाफ लड़ रहा था। तब यहाँ का कम्युनिस्ट कहता था, यह साम्राज्यवादी युद्ध है, इसमें मैं शामिल नहीं हूँगा। बाद में अमेरिका और इंग्लैंड के साथ रूस हो गया। तब जो साम्राज्यवादियों का युद्ध था, वह एक क्षण में लोकयुद्ध बन गया। तब हमने यहाँ के कम्युनिस्टों की हँसी उड़ायी थी, लेकिन उनकी भूमिका में कोई असंगति नहीं थी। भूमिका बदल गयी थी। हेरीपॉलित, जो इंग्लैंड के एक प्रमुख कम्युनिस्ट थे, उन्होंने लिखा कि अब दुनियाभर के पूँजीवादी राष्ट्र समाजवाद को अपने-आप अपना लेंगे। अपनी इच्छा से आत्म-समर्पण कर देंगे। यह आज हिस्टारिकल नेसेसिटी (ऐतिहासिक आवश्यकता) है। आज संदर्भ बदल गया है।

अन्तिम नियन्ता चेतन

तो क्या समाज-परिवर्तन ऐतिहासिक नियतिवाद के अनुसार होता है ? अगर होता है, तो फिर मनुष्य के पुरुषार्थ के लिए क्या अवसर है ? उसकी अपनी चेतना की इतिहास में कोई भूमिका है या नहीं ? अगर नहीं है, तो मनुष्य को अपने कामों के लिए जिम्मेवार क्यों माना जाय ? उस स्थिति में तो पूँजीपति भी अपने कामों के लिए जिम्मेवार नहीं है । यह कहना काफी होगा कि इतिहास की नियति में उसकी यह भूमिका है । लेकिन इतिहास तो जड़ है । ऐतिहासिक नियति एक अंध-नियति हो जायगी । सब कुछ अगर भगवान् की इच्छा से होता है और हमारे भाग्य के अनुसार होता है, तो मनुष्य फ्री एजेण्ट (स्वतंत्र कर्ता) नहीं रह जाता । इतना ही नहीं, मनुष्य की मनुष्यता ही समाप्त हो जाती है । मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण ही समाप्त हो जाता है । व्यावर्तक लक्षण या असाधारण धर्म वह लक्षण है, जो मनुष्य को दूसरे प्राणियों से पृथक् करता है । इसे परिभाषा कहते हैं । जैसे गाय का असाधारण लक्षण है 'सास्ना' या गले के नीचे लटकता हुआ मांस । **'सास्नादिमत्त्वम् गोत्वम् ।'** लॉजिक में इसे 'डिफरेन्शिया' कहते हैं । मनुष्य का डिफरेन्शिया क्या है ?—मनुष्य अपने कर्मों के लिए जिम्मेवार है और उसे अपने कर्मों के लिए दण्ड या पारितोषिक मिलता है । अब प्रश्न यह है कि नियति श्रेष्ठ है या पुरुष श्रेष्ठ है ? नियति पुरुष को बनाती है या पुरुष नियति को बनाता है ? और आखिर में, अन्तिम सत्ता चेतन की है या जड़ की ? जड़ का परिणाम तो चेतन पर होता ही रहता है । पहाड़, पत्थर, पानी, हवा, पेड़—इन सबका असर मनुष्य के चित्त पर और जीवन पर होता है, लेकिन नियन्ता कौन किसका है ? अब विज्ञान का आविष्कार इस मुकाम पर पहुँचा है कि नियन्ता चेतन है । यह मैं आटोमेशन और सायबरनेशन के बाद की बात कर रहा हूँ, जब कि कांप्यूटर्स आदि यंत्र व्यवहार में लाये जा रहे हैं । अन्तिम सत्ता ईश्वर की, या चेतन की ही माननी पड़ेगी ।

जीवन अपने में प्रयोजन

मनुष्य प्रकृति का एक चमत्कार है । सृष्टि में चेतना का विकास होता गया और विश्वव्यापी चेतना का व्यक्त स्वरूप मनुष्य है । उस चेतना की सबसे मूलभूत, सबसे प्राणभूत ऊर्जा प्रेम है । मनुष्य की अपने जीवन के लिए कोशिश चलती है, वैसे ही दूसरे के जीवन के लिए भी चलती है । यह सहयोग है । सहयोग का सिद्धान्त प्रेम का सिद्धान्त है । प्रेम ही जीवन का नियामक तत्त्व है ।

मतलब यह कि जीवन के लिए किसी अवान्तर प्रयोजन की जरूरत नहीं है, जीवन अपने में ही प्रयोजन है।

क्रान्ति का अग्रदूत कौन होगा ?

ऐतिहासिक नियति ही प्रधान है, ऐसा कहा जाता है। वहाँ मनुष्य के पुरुषार्थ के लिए अवसर कहाँ रह जाता है ? फिर क्रांति में मनुष्य का क्या स्थान होगा ? श्रमिक-वर्ग की क्या भूमिका होगी ? श्रमिक-वर्ग यानी जो मेहनत करता है, लेकिन मालिक नहीं है। पुरानी प्रक्रिया में वही क्रांति का प्रधान कर्ता माना जायगा। रूस की क्रांति से पहले किसान कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य नहीं बन सकता था। क्रांतिकारी पार्टी का अग्रदूत कारखानों का श्रमिक मजदूर माना गया था। लेकिन मार्क्स खुद उस अर्थ में श्रमिक नहीं था, वह तो बुद्धिजीवी था और एंजेल्स तो एक तरह से बूर्ज्वा ही था। इस देश में भी अस्पृश्यता-निवारण का आन्दोलन अगर कोई स्पृश्य न शुरू करता, तो उसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। और यह नहीं होता तो मनुष्य के लिए कोई आशा भी नहीं रहती। हर पतित, दलित-वर्ग के उद्धार का आन्दोलन प्रतिष्ठित वर्ग के किसी व्यक्ति ने ही शुरू किया है।

लेकिन अब इतिहास का विधाता, क्रांति का अग्रदूत कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं, साधारण मनुष्य बनेगा। यह साधारण मनुष्य कौन है ? जिसके हाथ में हँसिया-हथौड़ा है, करघा-चरखा है, हल-बैल है, वह साधारण मनुष्य अब इतिहास बनायेगा। उसके एक हाथ में उत्पादक परिश्रम के औजार होंगे और दूसरे हाथ में लेखनी तथा पुस्तक भी होगी। वह निपट मेहनतकश ही नहीं रह जायगा।

आज किसी साधारण मनुष्य का अपने औजार पर विश्वास नहीं है। कलमवाले का अपनी कलम पर कभी विश्वास नहीं रहा है। विद्यापति का अपनी विद्या पर विश्वास न रहा। उत्पादक का अपने उत्पादन के साधन पर विश्वास नहीं है। ये सब तलवार से घबराते हैं, तिजोरी से ललचाते हैं, तख्त से आकर्षित हो जाते हैं। जिन पर इन तीनों का प्रभाव नहीं चला, वे क्रांतिकारी बने। साधारण मनुष्य इनके प्रभाव से ऊपर उठेगा, इतिहास के परिणामों से ऊपर उठेगा, तभी वह क्रांति कर सकेगा। अब उसको इतिहास का विषय नहीं रहना है, इतिहास का विधाता बनना है। यह जो इतिहास का विधाता है, उससे हम कहते हैं कि स्वार्थों के टकराव का निराकरण तू करेगा। नागरिक और राज्य-सत्ता के बीच यह जो पालिटीशियन है, बिचौनिया है, उसको हम हटाना चाहते हैं। इसीका नाम क्रांति है।

हृदय-परिवर्तन की क्रान्ति

आज तक धर्म ने और सैनिकवाद ने मनुष्य पर जैसे अत्याचार किये, उसी प्रकार अब विचारवाद करना चाहता है। हर कोई अपने विचार के मुताबिक साधारण मनुष्य को बदलना चाहता है। इसे 'इन्डाक्ट्रिनेशन' कहते हैं। लेकिन मनुष्य अदम्य है। वह इसमें से भी सुरक्षित निकलेगा। मनुष्य मारा जा सकता है, लेकिन परास्त नहीं किया जा सकता। इसका सबूत है अणुबम। जिस मनुष्य को मारने के लिए एक सूई काफी है, उसे मारने के लिए अणुबम खोजना पड़ा। इसीमें आशा है। आज 'बीटनीक्स' का भी यही विश्वास है। मनुष्य केवल इतिहास की उपज नहीं है, वह स्पिरिट है। इस स्पिरिट' के स्वरूप का वर्णन एक ही शब्द में करना हो तो कह सकते हैं कि वह प्रेमस्वरूप है। तो ऐसे खालिस इन्सान की, साधारण मनुष्य की, प्रतिष्ठा की पुनःस्थापना करनी है।

इसके लिए आज हम जिस संदर्भ में रह रहे हैं, उस सन्दर्भ को बदलना होगा। यह कौन बदलेगा ? जिसको परिवर्तन की आवश्यकता है, जिसके पास शस्त्र, सत्ता, सम्पत्ति इनमें से एक भी साधन नहीं है और जो जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएँ पैदा करता है, ऐसा मनुष्य यह सन्दर्भ बदलेगा। इसलिए अब जो क्रान्ति होगी, वह शस्त्र-निरपेक्ष, सत्ता-निरपेक्ष और सम्पत्ति-निरपेक्ष होगी। जो क्रान्ति करेगा, उसका दिल और दिमाग सही होना आवश्यक है। कहीं हँसिया-हथौड़ा ही शस्त्र न बन जायँ। परशुराम तो भगवान् के अवतार थे। उनके हाथ में कुल्हाड़ी गयी। वे तो लकड़ी काटते नहीं थे। गलत आदमी के हाथ में औजार गया, तो कुल्हाड़ी मनुष्य पर ही चली। इसलिए गांधी ने हृदय-परिवर्तन की बात कही। क्रान्ति की प्रक्रिया ऐसी हो, जिसमें से हृदय-परिवर्तन हो और जिसमें से प्रातिक्रान्ति उत्पन्न न हो। इसलिए क्रान्तिकारियों के चित्त में संवादित्व (हारमोनी) होना आवश्यक है। यह प्रेम से ही सम्भव है। प्रेम ही जीवन के वृन्दसंगीत में संवादित्व रखता है। प्रेम ही समय की धमनियों में प्रवाहित होनेवाला रक्त है।

राँची-शिविर
११-५-'६८ दोपहर

: ४ :

समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया

जीवन की निरन्तर गतिशीलता

मैं संवादित्व (हारमोनी) की बात कर रहा था। एक मित्र ने पूछा है, जीवन में और समाज में संवादित्व आने के बाद क्या जीवन-यात्रा निरुद्देश्य नहीं हो जायगी ? मैं ऐसा नहीं मानता हूँ। मनुष्य जब एक-दूसरे के नजदीक आयेंगे और मन से ऊपर उठेंगे, तब भी जीवन यंत्रवत् नहीं होगा। ऐसी स्थिति में मनुष्य का सत्त्व प्रकट होगा। जीवन-यात्रा का कोई अंत है या नहीं, मैं नहीं जानता। प्रतीति यह होती है कि जीवन की गतिशीलता निरन्तर रहेगी। क्या जीवन की इस गति में कोई दिशा होगी ? दिशा होगी एक-दूसरे की तरफ। निरुपाधिक प्रेम मनुष्य का स्वभाव है। आज वह अवरुद्ध हो गया है—मनुष्य के विकारों के कारण और वासनाओं के कारण। ये विकार और वासनाएँ मनुष्य का स्वभाव नहीं है। स्वभाव की पहचान यह है कि उसको हम हटाना नहीं चाहते। विकार और वासनाओं को हम रखना नहीं चाहते, हटाना चाहते हैं। दूसरी भी एक पहचान है। शिक्षण के द्वारा जिसका विकास करना पड़ता है, वह स्वभाव नहीं है, वह संस्कार है, चाहे वह अच्छा संस्कार हो चाहे बुरा। संस्कार भी विकार है। तो फिर शिक्षण कैसा दें ? शिक्षण ऐसा हो, जिसमें से कम-से-कम संस्कार मिलें और मनुष्य के स्वभाव को प्रवृत्त होने के लिए ज्यादा-से-ज्यादा अवसर मिले। संस्कार ज्यादा होने से स्वभाव अवरुद्ध हो जाता है। जैसे-जैसे मनुष्य की विशिष्ट संस्कृति क्षीण होती जायगी, वैसे-वैसे मनुष्य का स्वभाव प्रकट होता जायगा और जैसे-जैसे मनुष्य का स्वभाव प्रकट होता जायगा, मनुष्य एक-दूसरे के निकट आते जायेंगे। यह शिक्षण का आधुनिकतम विचार है। शिक्षण आज मनुष्य को एक-दूसरे से अलग करता है। इन दिनों जितने भी सांस्कृतिक आन्दोलन हो रहे हैं, सबके नेता पढ़े-लिखे लोग हैं। ये सारे आन्दोलन विभाजन करनेवाले हैं। संस्कृति व्यवच्छेदक बन गयी है। मनुष्य को मनुष्य से अलग करनेवाली संस्कृति का प्रभाव कम होते जाना चाहिए और उसकी जगह मनुष्य का स्वभाव प्रकट होना चाहिए।

शिक्षण सहजीवन के लिए

रूसो ने 'एमिली' नामक ग्रंथ में सहज शिक्षण का जिक्र किया है। जो दिया नहीं जाता, जो अनायास मिलता है, वह सहज शिक्षण है। रूसो प्रकृतिवादी था। उसने स्वायत्त शिक्षण, स्वार्जित शिक्षण की बात रखी। जिस संस्कार से विशिष्ट संस्कृति विकसित होती हो, ऐसा संस्कार शिक्षण के द्वारा न दें। कुछ संस्कार तो सहजीवन के लिए आवश्यक होते ही हैं, जैसे, शरीर का स्वास्थ्य, स्वच्छता, व्यवस्थित रहन-सहन आदि। ये संस्कार शिक्षण देगा। विज्ञान की प्रगति के कारण हमारे जीवन में धीरे-धीरे एस्परेंटोइज्म आ रहा है। पोशाकों में समानता आ रही है। खान-पान, रहन-सहन में समानता आ रही है। इमारतें, रास्ते आदि में भी आप समानता देखेंगे। बाहर से जीवन एक-सा हो रहा है। लेकिन मनुष्य का मन पिछड़ रहा है और जहाँ वह रुक गया है, उस जगह का नाम संस्कृति है। ऐसी संस्कृति का संस्कार शिक्षण न दे। मनुष्य का स्वभाव है एक-दूसरे के निकट आना, एक-दूसरे के साथ रहना। इसमें रुकावट डालनेवाले विकार और वासनाओं का निराकरण करने का काम शिक्षण करे। तो अब शिक्षण 'निगेटिव' होगा।

निकटता हो, संघर्ष नहीं

साथ-साथ एक और चीज होनी चाहिए। समाज में विकारों के प्रकट होने के अवसर कम होते जाने चाहिए। असल में समाज गुनाहों को जन्म देता है और फिर गुनहगार गुनाह करता है। संघर्ष भी वहीं होता है, जहाँ निकटता है। यह इस सृष्टि की विलक्षणता है। अब पुरुषार्थ यह करना होगा कि निकटता तो होगी, लेकिन संघर्ष नहीं होगा। आज संस्कृति मनुष्यों को एक-दूसरे से अलग करती है। ऐसी संस्कृति का विकास अगर शिक्षण करेगा, तो वह शिक्षण शिक्षण नहीं रह जायगा, वह प्रचार का साधन बनेगा। राज्यसत्ता जिस विचार की होगी, उस विचार के प्रचार का साधन वह शिक्षण बनेगा। रसेल ने कहा है, सरकारें शिक्षण का उपयोग लोगों के चित्त में जो मूढ़ग्राह होते हैं, उनका पोषण करने के लिए करती हैं। इसीलिए वे शिक्षण पर इतना खर्च करती हैं। दूसरे एक साहित्यिक ने आधुनिक शिक्षण को 'मंबोजंबो' कहा है। यह पश्चिम अफ्रीका का एक देवता है। लोग उसे 'हौआ' समझकर उससे डरते हैं। संस्कृति के नाम पर आज अलग-अलग छोटे-छोटे—नेशनेलिटीज—'राष्ट्रक' बन रहे हैं। अब शिक्षण को यह करना होगा कि विशिष्ट संस्कार न देकर मूल स्वभाव को प्रकट होने दे।

क्रान्ति की प्रक्रिया में से शिक्षण

इसके लिए समाज का आज का सन्दर्भ बदलना होगा। उसे कौन बदलेगा? जिसका अपना हृदय और मन बदला है, वह बदलेगा। यह क्रांति की नवीन प्रक्रिया है। क्रांति की प्रक्रिया का और शिक्षण का अनुबन्ध होना चाहिए। क्रांति की प्रक्रिया में से ही शिक्षण हो। यह कोई अभिनव सूत्र नहीं है। आज तक यह तो माना ही गया था कि चुनाव की प्रक्रिया में से मतदाता का शिक्षण हो। सन् १८६० में राबर्ट लो ने नारा दिया था, "हमें अपने मालिकों को शिक्षित करना चाहिए।" कारखाने में जब मजदूर काम करने आये, तब जरूरत हुई कि वे आँकड़े पहचान सकें, अक्षर पहचान सकें। अशिक्षित, निरक्षर मजदूर से साक्षर मजदूर ज्यादा कुशल होता है। इसलिए शिक्षण का आरम्भ कारखाने में हुआ। इसके बाद दूसरी आवश्यकता हुई, मतदाताओं की साक्षरता की। सिर्फ चिह्नों द्वारा अपने सिद्धान्तों को भलीभाँति नहीं समझाया जा सकता था। शब्दात्मक संकेतों की मतदाता के लिए आवश्यकता हुई। सारांश, यह माना गया कि चुनाव में से मतदाताओं का शिक्षण हो। चुनाव लोक-शिक्षण का पर्व हो। इसके आगे चलकर हम यह कहना चाहते हैं कि समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया में से भी लोगों का शिक्षण होगा। यह कैसे होगा?

रूस की क्रांति के बाद लेनिन को आवश्यकता हुई कि सारे मजदूरों का शिक्षण हो और उससे पहले आवश्यकता हुई, उनसे जबरदस्ती काम कराया जाय। सवाल यह हुआ, जो मजदूर क्रांति में शामिल थे, क्रांति में साथ थे, उनको डराकर, धमकाकर, हंटर दिखाकर काम कराने की जरूरत क्यों पड़ रही है? लेनिन ने कहा, ये जो गरीब मजदूर थे, क्रांति इनके स्वार्थ के अनुकूल थी। इनको खाना, कपड़ा, मकान चाहिए था, इसलिए ये मेरे साथ आये। इसलिए नहीं आये कि ये समाजवादी थे। आज भी कोई मजदूर यह नहीं चाहता कि अपने से नीचेवाला मजदूर भी उसकी बराबरी पर आये। दूसरे की मेहनत खरीदनेवाला उतनी देर तक मालिक बन जाता है। और जो अपनी मेहनत बेचता है, वह उतनी देर के लिए मजदूर बन जाता है। अब दंड-प्रयोग के बिना कानून का मर्यादित सहारा लेकर मुख्य रूप से शिक्षण के और विधायक पुरुषार्थ के द्वारा इस व्यवस्था को बदलना होगा। इस दृष्टि से समाजवाद और साम्यवाद सर्वोदय के प्रतिस्पर्धी नहीं हैं। सर्वोदय का इनसे मुकाबला नहीं है। सर्वोदय इनका उत्तराधिकारी है।

मार्क्स की देन

मार्क्स से पहले योरप में तीन ऐतिहासिक घटनाएँ हुईं। 'रेनासन्स', 'रेफर-

मेशन' और 'रिव्होल्यूशन'। रेनासन्स से मतलब है, सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन। योरप में धर्म है क्रिश्चॅनिटी, लेकिन संस्कृति प्रधानतः ग्रीस और रोम की है। रेनासन्स के बाद आया रेफरमेशन। रेफरमेशन यानी धार्मिक संजीवन या धर्म-सुधार कह लीजिए। इसका प्रणेता था मार्टिन लूथर। इसने 'चर्चियानिटी' और 'क्रिश्चॅनिटी' को एक-दूसरे से अलग करने की चेष्टा की। 'मंदिर के जितने नजदीक जाओगे, भगवान् से उतने ही दूर रहोगे।' तो फिर मन्दिर किसका है ? पुरोहित का। इसलिए भगवान् और भक्त के बीच में से पुरोहित को हटाओ। उस वक्त का पुरोहित पापों की 'क्षमाएँ' बेचता था पैसे लेकर। इस भ्रष्टाचार के खिलाफ मार्टिन ने आवाज उठायी। इसके बाद आया फ्रेंच रिव्होल्यूशन और फिर अमेरिकन रिव्होल्यूशन। इन सारी घटनाओं से जो लाभ होना चाहिए था, वह क्यों नहीं हुआ ? क्योंकि इनमें अंततोगत्वा शस्त्र का उपयोग किया गया था। अन्त में शस्त्रवाद और सत्तावाद की प्रतिष्ठा कायम हुई। इसलिए ये सारी क्रांतियाँ बाद में कलुषित हो गयीं। इसके बाद आयी मार्क्स की क्रांति। मार्क्स ने स्वयं क्रांति तो नहीं की, परन्तु क्रांति का एक विज्ञान, एक कला संसार को दी। इसमें तीन वैज्ञानिक उद्देश्य थे, जो उससे पहले संसार में किसीने नहीं रखे थे। किसी दार्शनिक ने नहीं, किसी तत्त्वज्ञानी ने नहीं, किसी संत-महात्मा ने नहीं। मार्क्स ने पहली चीज यह कही कि दुनिया के इतिहास में एक दिन आयेगा, जब गरीबी और अमीरी नहीं रहेगी। न जकात की जरूरत रहेगी और न चॅरिटी का प्रयोजन। दान देनेवाला भी नहीं रहेगा और दान लेनेवाला भी नहीं रहेगा। जकात और दान अस्वस्थ मनोवृत्ति का लक्षण है। समाज में गरीब और अमीर सदैव रहेंगे और इन दोनों में सौहार्द रहेगा। इसे अंग्रेजी में 'क्लास कोलॅबोरेशन' कहते हैं। यह वर्गसमन्वय समानता के प्रतिकूल है।

मार्क्स ने दूसरी चीज यह कही कि एक दिन आयेगा, जब युद्ध नहीं रहेगा और शस्त्र भी नहीं रहेगा। कम्युनिज्म मिलिटरी डॉक्ट्रीन नहीं है। शस्त्रवादी नाजीज्म है, फैसिज्म है, लेकिन कम्युनिज्म कभी शस्त्रवादी था नहीं। और तीसरी चीज मार्क्स ने यह कही कि दुनिया में राज्य और राष्ट्र नहीं रहेंगे। इसे 'इंटरनेशनॅलिज्म' कहते हैं। सन् १९१८ में मास्को में तीसरी इंटरनेशनल में इस आशय की तीन प्रतिज्ञाएँ की गयीं। मार्क्स के बाद लेनिन की क्रांति आयी। इसने एक चीज और जोड़ दी। तब तक किसान कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य नहीं हो सकता था। इसने कहा कम्युनिस्ट पार्टी में किसान का सक्रिय भाग होना चाहिए। कम्युनिस्ट क्रांति किसान की क्रांति हो सकती है। तो अब क्रांति की प्रक्रिया में किसान और मजदूर, दोनों का सहयोग होगा। यह लेनिनिज्म

है। पहले यह माना जाता था कि समाजवाद की स्थापना एक ही देश में नहीं हो सकती है। इंटरनेशनॅलिज्म था। लेनिन के बाद स्तालिन आया। उसने कहा समाजवाद एक देश में स्थापित हो सकता है। तब वह देश समाजवाद का स्पीअरहेड (बाणाग्र) बनेगा। खिलाफत के कारण तुर्कस्तान 'इस्लाम की शमशेर' माना गया था। उसी तरह रूस समाजवाद का 'बाणाग्र' बनेगा। ट्राट्स्की ने यह नहीं माना। इसलिए स्तालिन और ट्राट्स्की अलग हो गये। इन सबके बाद अब माओ आया है। माओ एशिया का है। अब तक एशिया में साम्राज्यवाद का विरोध था, उपनिवेशवाद का विरोध था, अब एक और चीज का विरोध जागृत हुआ—सत्ता में गोरे रंग का विरोध। सत्ता का रंग अब तक गोरा था। ये सारे गोरे लोग काले लोगों के उद्धार के लिए भगवान् के द्वारा भेजे गये हैं, ऐसा माना जाता था। रडयार्ड किपलिंग ने कहा था, पूर्व पूर्व है और पश्चिम पश्चिम है, दोनों कभी मिलेंगे नहीं। इसके मुकाबले में चीन खड़ा हो गया। अब तक दुनिया में दो अधिराज्य थे, रूस और अमेरिका। अब ढाई, करीब-करीब तीन हो गये हैं। इसमें फिर एशिया और अफ्रीका की जनता की स्वतंत्रता और 'अस्मिता', 'स्वबोध' का प्रवेश हुआ। रूस की क्रांति में क्या हुआ था ? मजदूर आगे था और किसान उसके पीछे-पीछे था। माओ ने कहा, अब क्रांति की विभूति किसान बनेगा। अब भारत में जो क्रांति हो रही है, वह माओ की क्रांति के बाद हो रही है। रूस की क्रांति फ्रांस की क्रांति की नकल नहीं थी, चीन की क्रांति रूस की क्रांति की नकल नहीं थी। ये क्रांतियाँ अपनी पूर्व की क्रांति की उत्तराधिकारी थीं। इन सारी क्रांतियों के बाद भारत में जो क्रांति होगी, वह इनकी उत्तराधिकारी होगी, किसी क्रांति की नकल नहीं होगी। इसलिए हम कहते हैं कि क्रांति की प्रक्रिया में से ही लोगों का शिक्षण होना चाहिए। क्रांति के दौरान लोगों को क्रांति के मूल्यों के लिए तैयार किया जाना चाहिए।

काम की प्रेरणा

इस सिलसिले में एक प्रश्न का विचार और प्रस्तुत है—काम की प्रेरणा क्या हो ? जबरदस्ती में से काम की प्रेरणा नहीं आ सकती है। काम की कुशलता भी इसमें से नहीं आ सकती है। एक खोज हुई, समाज की प्रशंसा ही काम की मुख्य प्रेरणा हो—यह रुस्तम-ए-हिन्द है, उसे महावीर चक्र मिला। इसमें मनुष्य जो चाहता है, वह उसे मिल जाता है। मुनाफे की प्रेरणा की जगह प्रशंसा की इस स्वाभाविक प्रेरणा का उपयोग किया जाता है। दूसरी

एक प्रेरणा है, 'इमोल्यूशन'। कॉम्पीटिशन में झगड़ा होता है, ईर्ष्या होती है, 'इमोल्यूशन' में 'स्पर्धा' है, लेकिन 'प्रतिस्पर्धा' नहीं है। जो सबसे आगे है, उसकी बराबरी पर सब जाने की चेष्टा करेंगे। लेकिन इस परिस्पर्धा की प्रेरणा ने भी काम नहीं दिया। तब आया स्टेकोनॉव्ह। इसने नया सूत्र दिया, 'काम के मुताबिक दाम'। समाजवाद क्या कहता है ?—'ताकत के मुताबिक काम और जरूरत के मुताबिक दाम।' लेनिन ने कहा था हम दो कदम आगे जाने के लिए एक कदम पीछे जा रहे हैं। इस तरह से प्रेरणा की खोज में सामाजिक संयोजन में परिवर्तन करना पड़ा। हम कहते हैं कि क्रांति की प्रक्रिया ही ऐसी हो, जिसमें से सामाजिक प्रेरणा जागृत हो। इस तरह हम एक कदम आगे बढ़ते हैं।

सवाल है, क्या यह संभव है ?

सन् १८४८ में 'कम्युनिस्ट मॅनिफेस्टो' निकला। उसकी जो फ्रेंच आवृत्ति निकली, उस आवृत्ति की भूमिका में एंजेल्स ने लिखा है, फ्रांस में और इंग्लैंड में, जहाँ पर गरीब के हाथ में 'वोट' है, वहाँ 'वोट' से क्रांति हो सकती है। बीसवीं कांग्रेस में मास्को में ख्रुश्चोव ने कहा अब तो साम्यवादी क्रांति अन्य साधनों द्वारा भी हो सकती है। इनमें पार्लमेंटरी मेथड का समावेश है। यहाँ माओ का ख्रुश्चोव से मतभेद हुआ। माओ कहता है ख्रुश्चोव रिविजनिस्ट है। बर्न स्टीन इस शब्द का जनक है। ख्रुश्चोव के पहले टीटो रिविजनिस्ट हो ही चुका था। टीटो ने कहा ऊपर डिक्टेटरशिप चलेगी और नीचे डेमोक्रेसी चलेगी। एक नया तरीका उसने चलाया। तो ख्रुश्चोव ने कहा कि क्रांति का दूसरा तरीका हो सकता है। वह भारत में, केरल प्रदेश में सिद्ध हुआ। बैलट बॉक्स से, मतदान द्वारा कम्युनिस्ट सरकार दो दफा सत्तारूढ़ हुई। दुनिया के इतिहास में यह पहले कभी नहीं हुआ था। अब बुलेट का रास्ता छोड़कर बैलेट का रास्ता लेना संभव हुआ। इसे 'अमृतसर थीसिस' कहते हैं। एक दूसरा भी प्रवाह था, लोकतांत्रिक समाजवाद का। उसका उद्देश्य वही था। इसने लोकतंत्र को अपनाया। इनके कई स्कूल्स थे। उनमें से एक है समाजवादी लोकतंत्र। लोकतंत्र के सन्दर्भ में और लोकतंत्र के द्वारा समाजवाद की स्थापना इनका उद्देश्य है। माओ-वादियों का कहना है कि यदि बलप्रयोग और डिक्टेटरशिप ऑफ द प्रोलितारियत को क्रांति में से निकाल देते हो तो तुम मार्क्सवादी नहीं रह सकते। इसके विपरीत हमारे यहाँ 'पचमढ़ी थीसिस' में कहा गया था कि मार्क्स अब पुराना हो गया है, हमको मार्क्स से आगे जाना होगा। तब सवाल हुआ क्रांति की प्रक्रिया में वर्ग-संघर्ष रहेगा या नहीं ? मार्क्स ने एक नकशा बनाया था वर्ग का। कुछ मेहनत करने-

वाले गैरमालिक होंगे, कुछ मेहनत न करनेवाले मालिक होंगे। यह वास्तविकता सिर्फ कारखानों में थी। खेती में यह वस्तुस्थिति नहीं थी। दूसरी भी एक चीज थी। मालिक और मजदूर, गरीब और अमीर दोनों की मनःस्थिति में कोई मूलभूत अन्तर नहीं होता है। गरीब को अमीर बनने की आशा है, इसलिए वह गरीबी को सह लेता है। अमीर को गरीब बनने का डर है, इसलिए वह अमीरी को ढोता है। मनुष्य-स्वभाव में संग्रह-वृत्ति नहीं है। दुर्भिक्ष होता है तो संग्रह की आकांक्षा होती है। वासना चाहे जितनी अपार हो, मनुष्य की उपभोग-शक्ति सीमित है। इस शक्ति से बाहर जो उपभोग होता है, उसे 'कान्स्पिक्यूअस कंजम्पशन' कहते हैं—'अतिरिक्त विलास'। गरीब और अमीर व्यक्ति बदलते रहते हैं। ये दो वर्ग तो हैं, इसीलिए व्यक्ति निरन्तर बदलते रहते हैं। वर्ग-निराकरण के लिए व्यक्तियों की स्वयंप्रेरणा से वर्ग-परिवर्तन की आवश्यकता है, लेकिन उससे भी पहले व्यक्ति के हृदय-परिवर्तन की आवश्यकता है। व्यक्तिगत आचरण में क्रांति के मूल्य चरितार्थ होते हैं, तभी वर्ग-परिवर्तन हो सकता है। सारांश, वर्ग-संघर्ष का सारा आशय बदल गया। वह पहले की अपेक्षा ज्यादा वैज्ञानिक बन गया।

उस परिस्थिति में वर्गों का एक नकशा था। पूँजीवाद में एक आंतर्विरोध है। यंत्रों के कारण मजदूरों की आवश्यकता कम होगी और उत्पादन ज्यादा होगा। इस कारण कुछ प्रसंगों में यंत्रों का मार्क्स ने भी विरोध किया था। इसलिए विरोध किया था कि इसमें यन्त्र मनुष्यों के मुकाबले में खड़ा होता है। लेकिन पूँजीवाद ने यंत्रों की आवश्यकता मानी। यंत्र के कारण मजदूर की आवश्यकता कम होगी और उसके फलस्वरूप उसका वेतन कम होता जायगा, उत्पादन बढ़ता जायगा। लेकिन इसमें से मजदूर ज्यादा-ज्यादा गरीब होता जायगा और मालिक ज्यादा-ज्यादा अमीर होता जायगा। मजदूरों की संख्या अधिक है। उनकी क्रय-शक्ति कम होती जायगी। फिर जो ज्यादा उत्पादन होगा, उसे खरीदेगा कौन? खरीद के बिना तो वितरण नहीं होगा। कम्युनिस्ट मॅनिफेस्टो में कहा गया है कि पूँजीवाद को कोख में से ही उसकी कब्र खोदनेवाला पैदा होगा। लेकिन हुआ उलटा। जो कारखानेवाले देश थे, वहाँ का मजदूर खुशहाल होता गया। वर्गों का नकशा बदलता गया। इसलिए मार्क्स ने क्रांति के आरम्भ की कल्पना जिन देशों में की थी, वहाँ क्रांति हुई ही नहीं। इसका मतलब यह है कि मनुष्य का जीवन किसीके तंत्र को लेकर नहीं चलता। जीवन गतिमान् है। कम्युनिज्म का दर्शन आया जर्मनी से। मार्क्स ने हेगेल के सिद्धान्त को उलट दिया। कम्युनिज्म का सोशलिज्म फ्रांस से आया। विज्ञान लिया

डार्विन से। डार्विन का 'जीवन के लिए संघर्ष' का सिद्धान्त मनुष्य-जीवन के लिए लागू किया गया। उस पर से कुछ अंदाज किये, अनुमान किये, कुछ अंदाज गलत साबित हुए और अंत में कहना पड़ा कि इतिहास किसी पुरुष के हुक्म से नहीं चलता।

इस देश में जो लोकतांत्रिक समाजवाद है, उसमें रूस की क्रांति के सारे सिद्धान्त हैं। राज्य नहीं रहेगा, वर्ग नहीं रहेंगे और युद्ध नहीं रहेगा। इन तीनों को समाजवाद ने मान लिया है। परन्तु यहाँ की क्रांति के लिए जो प्रक्रिया होगी, वह रूस और चीन की प्रक्रिया के बाद की प्रक्रिया होनी चाहिए।

क्रान्ति में बलप्रयोग पुरानी चीज

दूसरे महायुद्ध के बाद कोई निर्णायक युद्ध नहीं हुआ है। 'निर्णायक' से मेरा मतलब है ऐसा युद्ध, जिसमें किसीकी जीत हुई हो और किसीकी हार हुई हो। ऐसा युद्ध इसके बाद भी नहीं होगा। क्योंकि अब कोई समस्या किसी एक देश तक या किसी क्षेत्र तक मर्यादित नहीं रह गयी है। साथ-साथ कोई समस्या शस्त्र-बल से अब हल नहीं हो सकती। अणुबम का प्रयोग नहीं किया जा सकता, वह सिर्फ डिटरंट माना जाता है। इसलिए अब जो समाज-परिवर्तन होगा, उसमें भी शस्त्र-शक्ति निर्णायक नहीं हो सकती। माओ और ल्यू दोनों सहयोगी थे, अब दोनों एक-दूसरे के मुकाबले में खड़े हैं। फिर भी माओ ल्यू को नष्ट नहीं कर सकता। स्तालिन और ट्राट्स्की का मतभेद हुआ और ट्राट्स्की का जीवन ही समाप्त हुआ। आज माओ के पास सेना है, ल्यू के पास सेना नहीं है। राज्य-सत्ता के विरुद्ध जो क्रांति करना चाहेगा, उसके पास उस मात्रा में शस्त्र-बल नहीं होगा, क्योंकि हमने राज्य को सब प्रकार से शस्त्र-सम्पन्न किया है। हमारी सरकारों के पास आधुनिकतम शस्त्र हों, इसके लिए हमने पैसा दिया है और वोट भी दिया है। उसी सरकार के विरोध में प्रजा का सशस्त्र प्रतिकार सफल नहीं हो सकता। अधिक-से-अधिक अराजकता हो सकती है, क्रान्ति नहीं हो सकती। क्रांति में बल-प्रयोग अब कालविपर्यय हो गया है, वह पुरानी चीज हो गयी है।

सत्याग्रह

तो क्या, लोगों के हाथ में वोट के अतिरिक्त ऐसी कोई शक्ति है, जो वोट की अधिष्ठात्री होगी? कानून के लिए अधिष्ठान की आवश्यकता होती है। जनता, जिसके हाथ में राज्यसत्ता नहीं है, सैनिक सत्ता नहीं है और आर्थिक सत्ता भी नहीं है, ऐसी जनता, चाहे वह बहुसंख्य हो, या चाहे अल्पसंख्य हो—उसकी सम्मति कानून की अधिष्ठात्री शक्ति बनेगी। यह सम्मति जितनी वास्तविक

होगी, लोकतंत्र उतना ही विकसित होता जायगा। परन्तु कुछ प्रसंग ऐसे होते हैं, जहाँ वोट के प्रयोग के लिए अवकाश नहीं होता और बुद्धि-शक्ति कुंठित हो जाती है। ऐसे प्रसंगों में जनता के पास क्या कोई विकल्प हो सकता है ? गांधी ने एक अपूर्व पर्याय सुझाया—उसका नाम है 'सत्याग्रह'। प्रतिकार की ऐसी पद्धति, जिसमें शस्त्रनिरपेक्ष वीरता के लिए अवसर हो। शस्त्रनिरपेक्ष वीरता में अल्पसंख्यकों के लिए भी आशा है और सफलता की सम्भावना भी है।

राँची-शिविर

१२-५-'६८

: ५ :

सत्याग्रह की विधायक भूमिका

हम जो अध्ययन कर रहे हैं, उसमें हम इस सवाल तक पहुँचे कि जनता को यदि किसी कारणवश राज्यसत्ता का मुकाबला करना हो और वह जनता अल्पसंख्य हो या बहुसंख्य हो, जब उसके वोट की सामर्थ्य कुंठित हो जाती है, तब क्या उसके पास कोई ऐसा साधन बचता है, जिससे वह अन्याय का प्रतिकार कर सके ? महाराष्ट्र में एक बहुत बड़े समाजवादी विचारक हो गये—आचार्य शंकर दत्तात्रेय जावड़ेकर। उनकी एक बहुत उपयोगी पुस्तक है, 'आधुनिक भारत'। उन्होंने जो कुछ लिखा, मराठी में लिखा। इसलिए अखिल भारत को उनके विचारों का लाभ नहीं मिला। इस 'आधुनिक भारत' के लेखक जावड़ेकरजी का एक नया शब्द है, 'सत्याग्रही समाजवाद'। इसमें गांधी और मार्क्स का समन्वय करने की चेष्टा उन्होंने की है। प्रतिपादन यह किया है कि लोगों के पास कभी भी उतने शस्त्र नहीं हो सकते हैं, जितने राज्य की सेना के पास होते हैं। तो, लोगों के पास ऐसे कौनसे साधन हो सकते हैं, जिनसे अपने अस्तित्व को वे प्रभावशाली बना सकें ? सत्याग्रह ऐसा साधन है। और लोक-समाज यदि यह साधन अपनाता है, तो उसमें से 'सत्याग्रही समाजवाद' की स्थापना होगी। 'वैज्ञानिक समाजवाद' में अब 'सत्याग्रह' जुड़ जाना चाहिए, तब उसकी परिपूर्ति हो जायगी।

बुराई का प्रतिकार ?

यह 'सत्याग्रह' क्या है ? उस दिन मैंने एक शब्द कहा था 'निःशस्त्र वीरता'। एक दूसरा शब्द आप जानते हैं, 'पैसिव रेजिस्टेन्स'। यह ऐसा प्रतिकार है, जिसमें भावरूप क्रिया नहीं है—अभावरूप प्रतिकार है। इसका आरम्भ हुआ इंग्लैंड में। वहाँ के कुछ लोगों ने कहा, हमारे विद्यालयों में साम्प्रदायिक शिक्षण नहीं दिया जाना चाहिए। क्रिश्चॅनिटी का शिक्षण, प्रेसबिटेरियन, रोमन कैथोलिक पंथों का शिक्षण, बाइबिल का शिक्षण नहीं दिया जाना चाहिए। इसके प्रवक्ता थे जेम्स जेकब, होली ओक आदि, जिन्होंने 'सेक्युलर' शब्द प्रचलित किया। इनके साथ चार्ल्स ब्रेडलॉ नाम के एक निरीश्वरवादी व्यक्ति भी थे। उन्हीं दिनों एनी बेसेण्ट भी इन लोगों के साथ थी। इन लोगों ने यह कहा था कि

साम्प्रदायिक शिक्षण हमारी शिक्षण-संस्थाओं में दिया जायगा, तो हम शिक्षण का कर नहीं देंगे। इसके बाद पैसिव रेजिस्टेन्स का प्रयोग इंग्लैंड में हुआ—स्त्री के मताधिकार के आन्दोलन के समय। इस आन्दोलन का नेतृत्व मिसेस पैंखर्स्ट नाम की स्त्री ने किया था। सूसान एन्थनी नामक एक अमेरिकन महिला ने अमेरिका में आन्दोलन किया। इन्होंने प्रेसिडेंशियल इलेक्शन में पहले-पहल वोट दिया था। स्त्री मतदान-आन्दोलन में अप्रत्यक्ष प्रतिकार की पद्धति का प्रयोग किया गया था। मुँह बनाना, चिढ़ाना, कोट-कपड़े फाड़ना, गालियाँ देना, कुर्सियाँ जलाना, खिड़कियों के काँच फोड़ना, घूँसे दिखाना यह सारा जायज था। मतलब यह है कि चोट पहुँचाना और प्राण लेना इतना ही जायज नहीं था। गांधी ने जब दक्षिण अफ्रीका में आन्दोलन करना चाहा, तब प्रश्न यह हुआ कि इस आन्दोलन को क्या नाम दिया जाय? पहले जो पैसिव रेजिस्टेन्स के आन्दोलन हुए, उनका तो अनुकरण गांधी नहीं करना चाहता था। इसके साथ-साथ ही दुनिया में दो प्रवाह चलते थे। रशिया में टॉल्स्टॉय युद्धमात्र को, हिंसामात्र को गलत मानता था। दूसरा था अमेरिका का हेनरी डेविड थोरो। थोरो एक बहुत बड़ा शान्तिप्रिय व्यक्ति था। वॉल्डन नाम के उपवन में झोपड़ी बनाकर रहता था। इन दोनों के विचारों का गांधी पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। बाइबिल में, 'सरमन ऑन दि माउण्ट' (गिरि-प्रवचन) में जो वाक्य आता है, 'कोई तुम्हारे एक गाल पर चपत मारता है, तो दूसरा गाल आगे करो, कोई तुम्हारा कोट माँगे तो उसे अपना मोजा भी दे दो, कोई तुम्हें एक मील चलने के लिए कहता है तो दो मील चलो।' यह सब 'नॉन रेजिस्टेन्स', अप्रतिकार माना गया। ईसा ने एक बात और कही, जो दूसरे धर्मों ने नहीं कही। उसने कहा, "जो तलवार हाथ में लेगा, उसका तलवार से ही विनाश होगा।" असल में क्या यह 'रेजिस्ट नॉट इविल' हुआ? क्या इसे अप्रतिकार कह सकते हैं? 'कोई तुम्हारे एक गाल पर तमाचा मारता है, तो दूसरा गाल आगे करो'—इससे या तो मारनेवाले को और भी गुस्सा आयेगा या फिर वह शरमिंदा हो जायगा। 'और मार' 'और मार' कटुता के बिना कहने की शक्ति साधारण मनुष्य में, जो डरपोक हो या क्रोधी हो, नहीं आयेगी। सामनेवाले में भी इसके कहने की स्वीकृति तो नहीं होगी। वह कहता है, 'तू कहता है उससे अधिक करूँगा'। यही कारण है कि ईसा को सूली पर चढ़ाया गया। फिर भी उपदेश तो था 'रेजिस्ट नॉट इविल'—बुराई का प्रतिकार मत करो। इसमें से गांधी को प्रेरणा मिली।

गांधी के सत्याग्रह में वीरता की प्रेरणा

सवाल था गांधी के नये तरीके को नाम क्या दिया जाय ? आवश्यकता थी निःशस्त्र वीरता की। हमारे पास अगर शस्त्र की शक्ति होती तो सत्याग्रह का आविष्कार होता या नहीं, कह नहीं सकते। समस्या में से आविष्कार हुआ। दक्षिण अफ्रीका में गोरों की सत्ता थी। राज्य गोरों का, सेना गोरों की। इस परिस्थिति में से क्या शस्त्र-शक्ति का उपार्जन किया जा सकता था ?

यह हर क्रान्तिकारी की विशेषता है कि वह प्रतिकूलता में से अनुकूलता उपस्थित करता है। संकट को अवसर बना देता है। हमारा देश भूखों का देश है। भूखों के इस देश में आन्दोलन का आरम्भ हुआ उपवास से। देश बेकारों का है, आन्दोलन का आरम्भ हुआ हड़ताल से। देश निहत्थों का है और आन्दोलन का आरम्भ हुआ है शस्त्र-निषेध से। जनता को अपने पीछे ले जाने की जो शक्ति गांधी में आयी, उसका रहस्य यहाँ है। भूखे में उपवास की शक्ति जागृत हो, बेकार अपनी मर्जी से काम बंद रख सके, निहत्था हथियार छोड़ने के लिए तैयार हो जाय। पैसिव रेजिस्टेंस में और गांधी की प्रक्रिया में यह एक बड़ा फर्क था। पैसिव रेजिस्टेंस विवशता का अस्त्र है, उसमें शस्त्र का निषेध नहीं है। जहाँ विवशता है, वहाँ वीरता नहीं है। लाचारी से जो प्रतिकार होता है, वह सफल हो सकता है, लेकिन उसमें से भावरूप शक्ति का विकास नहीं हो सकता। हर चुनाव में कांग्रेस जीतती गयी, लेकिन हर जीत के साथ शक्ति खोती गयी। तो पैसिव रेजिस्टेंस में जोर प्रतिकार पर था, वीरता पर नहीं था। इस देश में पिछले बीस वर्षों में अनगिनत सत्याग्रह हुए हैं, फिर भी लोक-शक्ति का विकास क्यों नहीं हुआ ? गांधी ने चार-पाँच सत्याग्रह किये। उनमें से लोक-शक्ति का अद्‌भुत विकास हुआ। आज सत्याग्रह में से लोक-शक्ति का विकास क्यों नहीं हो रहा है ? इसलिए नहीं हो रहा है कि आज जितने सत्याग्रह होते हैं, विवशता में से होते हैं। गांधी के सत्याग्रह भी विवशता में से हुए, लेकिन उनमें वीरता की प्रेरणा थी। यह फर्क था पहले के अप्रत्यक्ष प्रतिकारों में और गांधी के सत्याग्रह में। इसलिए गांधी नये शब्द की खोज में था।

संहार नहीं, वीरता

गांधी कोई शब्द-शास्त्री नहीं था। कई दिनों तक तो वह यह भी नहीं जानता था कि वर्ण और आश्रम, करघा और चरखा अलग-अलग हैं। गांधी वस्तुस्थिति के सामने खड़ा हो जाता था। उसके जीवन-निष्ठ चित्त पर वस्तु-स्थिति की स्वस्थ प्रतिक्रिया होती थी। उसने यह देखा कि पैसिव रेजिस्टेंस में विवशता है, मेरे सत्याग्रह में वीरता होनी चाहिए। इसलिए गांधी केवल युद्ध-

विरोधी नहीं था। युद्ध का विरोध उसने किया, लेकिन वह पैसिफिस्ट (शांतिवादी) नहीं था। युद्ध-विरोध उसका बाना नहीं था। वह इस खोज में था कि प्रतिकार हो, शस्त्र-निरपेक्ष प्रतिकार हो, लेकिन वह भावरूप प्रतिकार हो, वीरतायुक्त प्रतिकार हो। नये शब्द के लिए उसने विज्ञापन दिया। मगनभाई ने एक शब्द सुझाया, 'स दा ग्र ह'। गांधी ने सोचा, सदाग्रह कहूँगा तो 'सत्' की व्याख्या करना मुश्किल है। एकदम सूझा, 'सत्' की जगह 'सत्य' कर दो। इस प्रकार 'सत्याग्रह' शब्द सिद्ध हुआ। सत्याग्रह की एक विशेषता है। उसमें धर्मयुद्ध की असीम वीरता तो है, लेकिन धर्म-युद्ध की विहित हिंसा उसमें नहीं है। मनुष्य में जितने गुणों का विकास युद्ध से होता है, उन सारे के सारे गुणों के लिए अवसर सत्याग्रह में होना चाहिए, और युद्ध में जो एकमात्र दोष है—दूसरे का प्राण लेने का, वह सत्याग्रह में नहीं होना चाहिए। सत्याग्रह में वीरता तो होगी, लेकिन संहार नहीं होगा। क्रूरता तो होगी ही नहीं। जहाँ वीरता है, वहाँ क्रूरता नहीं हो सकती। जो दूसरे को डराना चाहता है, धमकाना चाहता है, वह वीर नहीं, क्रूर है। अगर क्रूरता में वीरता होती तो जल्लाद और कसाई सबसे बड़े वीर माने जाते। इसीलिए सिपाही की इज्जत इसमें है कि वह अपनी जान देने के लिए तैयार रहता है, इसमें नहीं कि वह दूसरे की जान लेने पर उतारू रहता है। अगर लड़ना है तो अपनी बराबरी का जोड़ देखो। जोड़ वह है, जिसमें अपने से अधिक शक्ति है। प्रतिकूलता जितनी अधिक, वीरता भी उतनी ही अधिक होती है। अनुकूलता में वीरता नहीं है। गांधी के लिए सब प्रतिकूलता ही प्रतिकूलता थी। सत्याग्रह में धर्मयुद्ध की वीरता वह दाखिल करना चाहता था। धर्मयुद्ध वह युद्ध है, जिसमें विकार नहीं है, जिसमें विजय की आकांक्षा नहीं है और अपना स्वार्थ नहीं है। चर्चिल ने कहा था न, 'व्ही फार व्हिक्टरी'। जो केवल विजय का कायल है, वह सोते हुए को भी मार डाल सकता है। यह हत्या है, मर्डर है। बर्नार्ड शॉ ने इसे 'एरा ऑफ स्लॉटर हाउस' कहा है। जहाँ अपनी जान का खतरा नहीं है, वहाँ वीरता नहीं है। जहाँ केवल डंडा चलता है वहाँ उद्दंडता का राज होता है, वीरों की सत्ता नहीं। कोई गुंडा किसी विद्यार्थी से आज तक डरा नहीं है। इस देश में अगर हथियार चलेंगे तो राज गुंडों का होगा। यह चीज गांधी ने पहचानी। उसके दिमाग में दूरंदाजी थी। सत्याग्रह में शस्त्रप्रयोग का निषेध किया, लेकिन वीरता का प्रतिपादन किया।

बहिष्कार

यह दक्षिण अफ्रीका का हुआ। हमारे देश में शुरू में वैधानिक आंदोलन हुए—प्रोटेस्ट (धिक्कार), प्रेअर (निवेदन) और पिटिशन (दरखास्त)

के। लोग कहते थे ये सब चापलूसी करनेवाले हैं। एक हद तक यह सही भी था, क्योंकि यह उपाय पर्याप्त नहीं था। गिड़गिड़ाना, समझाना, हुज्जत करना काफी नहीं था। इसके पीछे किसी शक्ति की आवश्यकता थी। श्री अरविंद, बिपिन पाल, तिलक ने और बाद में गोखले ने भी कहा कि वह शक्ति होगी 'पैसिव रेजिस्टेंस' की। प्रोटेस्ट-पिटिशन पक्ष के नेता गोखले माने जाते थे। इन्होंने सन् १९०५ की कांग्रेस के मंत्री से कहा, लोकमत का इस तरह अनादर सरकार करती रहेगी, तो सरकार के साथ सहकार को जयरामजी की। फिर हमारे पास पैसिव रेजिस्टेंस के सिवा कोई साधन नहीं रहता। इसका आचरण तो किया लाल-बाल-पाल ने। राष्ट्रीय पक्ष के ये तीन सयाने माने जाते थे। और आधे सयाने थे अरविंद। इनका एक पैर अध्यात्म में था। इसलिए ये साढ़े तीन इस आन्दोलन के अध्वर्यु थे। उन्होंने शब्द दिया, 'बहिष्कार'। विदेशी वस्तु के बहिष्कार से लेकर करबंदी तक सारे आन्दोलन इसमें आ जाते हैं। लाल-बाल-पाल, विशेष करके बाल (तिलक), जो कि भारत के पहले लोकमान्य थे, लोकशक्ति पर निर्भर करना चाहते थे। यह शक्ति मुट्ठीभर विद्रोहियों की, अराजकवादियों की शक्ति नहीं हो सकती थी। ऐसा साधन चाहिए था, जो लोगों द्वारा अनुष्ठित हो सके। बहिष्कार का साधन ऐसा लोकसुलभ साधन था। हमारे देश में अंग्रेजों का राज कायम हुआ—हमारे ही देश के लोगों के सहयाग और पराक्रम से। यहाँ आपस में संघर्ष, विग्रह नहीं होता तो अंग्रेजों का चंचु-प्रवेश यहाँ होना मुश्किल था। अंग्रेजी राज की भी यही शर्त थी कि उनका राज हम चलायें, स्थापना भी अंग्रेजी राज की हमने की और उसे चलाया भी हमने। डेढ़ लाख से ज्यादा अंग्रेज यहाँ आये नहीं। इंग्लैंड को अपना होमलैंड माना उन्होंने। लोकमान्य तिलक ने इस चीज को समझा। "मैं अगर एक लाख की सशस्त्र फौज खड़ी करता हूँ, तो अंग्रेज इसी देश में से दो लाख की फौज खड़ी कर सकते हैं। इसलिए इस देश में सशस्त्र क्रांति हो नहीं सकती।" सशस्त्र लोक-क्रांति तो आज भी नहीं हो सकती है। आज यहाँ के लोगों के पास शस्त्र होते, तो बिहारियों के शस्त्र बंगालियों पर चलते और महाराष्ट्रियों के कर्नाटक-वालों पर चलते। तिलक-अरविंद यह समझ गये कि जिस दिन अंग्रेज इसी देश से फौज खड़ी नहीं कर सकेंगे, उस दिन उनका राज ही समाप्त हो जायगा, हटाने के लिए सेना की जरूरत ही नहीं रहेगी। इसलिए निःशस्त्र प्रतिकार सम्भव है। उसका नाम उन्होंने बहिष्कार रखा।

इस परिस्थिति में क्षितिज पर गांधी का आविष्कार हुआ। वह गोखले का शिष्य भले ही रहा हो, लेकिन उत्तराधिकारी लोकमान्य का था। और

लोकमान्य का शब्द था 'बहिष्कार'। इस बहिष्कार में भी विवशता थी। गांधी ने कहा, 'निःशस्त्र प्रतिकार नहीं, सत्याग्रह'। और सत्याग्रह विवशता का अस्त्र नहीं है। सत्याग्रह शस्त्रनिरपेक्ष वीरता का आयुध है। इन्द्र के वज्र से भी इसमें अधिक शक्ति है। गांधी के पहले सत्याग्रह नहीं था, निःशस्त्र प्रतिकार था। आज भी निःशस्त्र प्रतिकार है। इसलिए पहले के निःशस्त्र प्रतिकार में से जिस प्रकार लोक-शक्ति का विकास नहीं हुआ, उसी प्रकार आज भी नहीं हो रहा है। परिस्थिति में परिवर्तन जरूर हुआ, लेकिन लोक-पुरुषार्थ का विकास नहीं हुआ।

गांधी का सत्याग्रह अधिक-से-अधिक वैज्ञानिक

एक दफा एक मनुष्य और एक राक्षस साथ-साथ यात्रा करने निकले। राक्षस लम्बे-लम्बे डग भरता चलता था, मनुष्य उसके साथ चलते-चलते हाँफता था। मुकाम पर पहुँचने पर राक्षस मनुष्य से कहता था, 'पैर दबाओ, रसोई बनाओ, खिलाओ। खाने के बाद पैर दबाओ।' और राक्षस का आराम पूरा होते ही फिर कूच करो। मनुष्य को आराम करने के लिए मौका ही नहीं मिलता था। यह आठ-दस दिन तक चला। मनुष्य की ऐसी हालत हुई कि 'अब मरा'। एक दिन राक्षस ने कहा, 'पैर दबाओ।' आज तो उँगली ही नहीं चलती थी। राक्षस कहने लगा, 'नहीं दबाओगे तो खा जाऊँगा।' मनुष्य थोड़ी देर सहमा, फिर कहा, 'खा जाइये।' तब राक्षस के होश दुरुस्त हो गये। उसने सोचा, आज इसको खा जाऊँगा तो कल क्या होगा? इस तरह हर राज्य प्रजा के सहयोग पर निर्भर रहता है, चाहे वह अधिनायक-तन्त्र ही क्यों न हो। यह राज्य की विवशता है। इससे हम लाभ उठाते हैं। इसमें से लोक-शक्ति का विकास नहीं हो सकता। इसलिए गांधी ने शस्त्र प्रतिकार के मुकाबले में सत्याग्रह कभी नहीं रखा। उसने उसे शस्त्रनिरपेक्ष प्रतिकार का साधन माना। उसने माना कि इसमें से वीरता का विकास होगा। लेकिन हमने गांधी के निःशस्त्र प्रतिकार का ही केवल स्वीकार किया, उसकी वीरता का स्वीकार कभी नहीं किया। गांधी के साथियों ने भी नहीं किया। उन्होंने सिर्फ निःशस्त्र प्रतिकार का प्रयोग किया और निःशस्त्र प्रतिकार में जान लेने के सिवा हिंसक प्रतिकार के सभी लक्षण आ जाते हैं। दूसरे की जान सुरक्षित रहे, यह छोटी-सी मर्यादा गांधी ने बतायी थी। इस छोटी-सी मर्यादा का भी दुनिया पर बहुत प्रभाव रहा। आज भी कोई ऐसी मर्यादा हम मानें कि किसीको चोट नहीं पहुँचायेंगे, जान नहीं लेंगे, सम्पत्ति का नाश नहीं करेंगे, तो आज भी सत्याग्रह सफल हो सकता है। ऐसे सत्याग्रह में सफलता की सामर्थ्य

आ सकती है, वीरता की सामर्थ्य आ सकती है। युद्ध जब निरर्थक सिद्ध हुआ है, ऐसी परिस्थिति में इस नवीनतम साधन का आविष्कार गांधी ने किया। इसलिए गांधी का यह सत्याग्रह अधिक-से-अधिक वैज्ञानिक है। इसके प्रयोग में दोष हो सकता है। प्रयोगी में जितने दोष, त्रुटियाँ होंगी, उतनी ही प्रयोगों में रह जायेंगी। लेकिन सत्याग्रह अपने में अमोघ साधन है, अव्यर्थ साधन है।

निःशस्त्रीकरण के साथ हृदय-परिवर्तन

वीरता के विषय में एक चीज और है। शस्त्र से वीरता का क्या सम्बन्ध है? शस्त्र में उसके सहचारी भाव होते हैं। चकला-बेलन है। आपके हाथ में किसीने दिया तो आप चिढ़ जायेंगे। उसके साथ कुछ सहचारी भाव हैं। कान पर कलम है, आप कहते हैं, मुंशी है। इस तरह से शस्त्र के साथ कुछ सहचारी भाव हैं। किसी लड़के के हाथ में बन्दूक दे दीजिये तो वह आप ही पर निशाना लगायेगा। हर आयुध के कुछ सहचारी भाव होते हैं। वीरता असल में हथियार में नहीं होती, हथियार जो धारण करता है, उसके हाथ में और उस हाथ के पीछे जो दिल होता है, उसमें होती है। वीर पुरुष निःशस्त्र होते हुए भी हारता नहीं है। वीरता हमेशा शस्त्रनिरपेक्ष होती है। शस्त्रधारी की वीरता भी शस्त्रनिरपेक्ष होती है। वीरता का उपकरण शस्त्र हो सकता है, लेकिन वीरता शस्त्र पर निर्भर नहीं है। इसलिए शस्त्र के सहचारी भाव मनुष्य के मन में से निकल जाने चाहिए, जिस वस्तु का सदुपयोग ही दुरुपयोग है। शस्त्र का सदुपयोग है मनुष्य का प्राण लेना। वही तो सबसे बड़ा दुरुपयोग है। इसलिए दुनियाभर के लोग निःशस्त्रीकरण का नारा लगाते हैं। शस्त्र अपने में अधम है। आग से रसोई भी बन सकती है, घर भी जल सकता है। पत्थर का सदुपयोग भी है, दुरुपयोग भी है, वह तटस्थ है। लेकिन शस्त्र तटस्थ नहीं है। शस्त्र का एक ही उपयोग है, हत्या। जिस चीज का एक ही उपयोग है, उसको समाज में रहने ही क्यों दें? लीग ऑफ नेशन्स में निःशस्त्रीकरण का पहला प्रस्ताव कम्युनिस्ट राष्ट्रों ने रखा। शस्त्रीकरण समाज-परिवर्तन के लिए आवश्यक है, लेकिन निःशस्त्रीकरण से मनुष्य का हृदय-परिवर्तन पूरी तरह से नहीं होता। शस्त्र नहीं होंगे तो चकला-बेलन को ही शस्त्र बनाया जायगा। लड़कों में लड़ाई होती है, तो लड्डू ही शस्त्र बनते हैं। मनुष्य का दिल और दिमाग सही न हो तो धर्म, साहित्य, संस्कृति, जाति, भाषा, देवता को ही वह शस्त्र बनायेगा। इसलिए गांधी ने कहा, निःशस्त्रीकरण के साथ-साथ हृदय-परिवर्तन होना चाहिए। सत्याग्रह में निःशस्त्र वीरता का शिक्षण है और साथ-साथ हृदय-परिवर्तन का भी शिक्षण है।

आवश्यक है कि प्रतिकार की प्रक्रिया में से भी लोगों का शिक्षण हो। क्रांति का क्षण कब आता है, कोई कह नहीं सकता। लेकिन क्रांति के लिए जो तैयारी करनी पड़ती है, उसे क्रांति की प्रक्रिया कहते हैं। यह प्रक्रिया ऐसी हो, जिसमें से लोक-शिक्षण होता रहे।

वीरता और सभ्यता

गांधी के सत्याग्रह में वीरता का और सभ्यता का भी साथ-साथ शिक्षण होता था। इसलिए उसने उसके एक अंग का नाम रखा 'सविनय अवज्ञा' (सिविल डिस-ओबिडिएन्स)। गांधी का पहला सत्याग्रह हुआ रौलट बिल के खिलाफ। इस सत्याग्रह के बाद शिमला के पास रहनेवाले एक अमेरिकन एस० ए० स्टोक्स ने गांधी को एक पत्र लिखा था, "तुम तो सहयोगी हो। असहयोग तो तुम्हारा धर्म नहीं है। तो, तुम असहकार क्यों कहते हो ? सिविल रेजिस्टेंस मत करो, सिविल असिस्टेंस का कार्यक्रम बनाओ।" गांधी ने उत्तर दिया था, "एक प्रतिकार भी ऐसा होता है, जो कि सहयोगात्मक होता है और एक प्रतिकार असहयोगात्मक होता है। मेरा प्रतिकार सहयोगात्मक है। मेरा प्रतिकार दोनों पक्षों को धन्य बनाता है।" परन्तु गांधी के बाद आज जो सत्याग्रह हो रहे हैं, उनमें से कितनी सभ्यता विकसित हो रही है ? सभ्यता केवल शस्त्र-निषेध से नहीं आती। तमाचा मारने से गाली देने में हिंसा अधिक है। सभ्यता नागरिकता का मुख्य लक्षण है। नागरिकता में और सैनिकता में यही अंतर है।

गांधी के सत्याग्रह में सत्य अधिक होता था, आग्रह कम होता था। जिस क्षण अपनी गलती वह देखता था, उसी क्षण सत्याग्रह छोड़ देता था। यही उसकी सत्यनिष्ठा की कसौटी थी, उसके नेतृत्व की भी यह कसौटी थी। वह आंदोलन को रोक सकता था। आज के नेता हड़ताल करा तो सकते हैं, लेकिन उसे रोक नहीं सकते। यह लीडरशिप की कसौटी है। गांधी के सत्याग्रह की आत्मा सभ्यता थी। डिस-ओबिडिएन्स सिविल तब है, जब वह नागरिकता के अनुकूल होती है, और वह नागरिक के अनुकूल तब होती है, जब वह सभ्य होती है।

शस्त्रनिरपेक्ष वीरता

अब सवाल है, क्या यह प्रतिकार राष्ट्र के प्रतिरक्षण का साधन हो सकता है ? गांधी मानता था कि हो सकता है। उसको प्रयोग के लिए अवसर नहीं मिला। विनोबा मानते हैं कि वह प्रतिकार हो तो सकता है, लेकिन उसके

प्रयोग के लिए आज अवसर नहीं है। पश्चिम के शांतिवादी भी मानते हैं कि हो सकता है, होना ही चाहिए, लेकिन उन्होंने कभी उसका व्यापक प्रयोग नहीं किया। किसी देश की समूची जनता में इतना आत्मप्रत्यय अभी पैदा हुआ नहीं है। यह प्रयोग असफल ही क्यों न हो, लेकिन उसका आचरण होना चाहिए। शस्त्र के प्रयोगों से ये असफल प्रयोग ज्यादा आशादायक हैं। शस्त्र-प्रयोग की असफलता के बाद हाथ में कुछ भी नहीं रह जाता। जहाँ सिपाही हार गया, वहाँ नागरिक भी हार गया। सिविल डिस-ओबिडिएन्स में कम-से-कम इतना तो नहीं होगा। सिपाही के पीछे नागरिक की शस्त्रनिरपेक्ष वीरता होगी। शिवाजी की तलवार के पीछे भवानी माता की शक्ति खड़ी थी। लेकिन व्यापक लोकव्यापी प्रयोग में सिपाही की तलवार की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। लोकशक्ति ही पर्याप्त है। इसका प्रयोग नहीं हुआ है। लेकिन अब इस प्रयोग के बिना कोई दूसरा चारा ही नहीं रहा है। जिस देश को हथियार के लिए अमेरिका और रूस का मुँह ताकना पड़ता है, और जब कि परंपरागत सारे शस्त्र निरर्थक साबित हो रहे हैं, उसे ऐसा प्रयोग करना चाहिए। नागरिक की शक्ति जब बढ़ेगी, तब सिपाही की बंदूक में अदम्य शक्ति आयेगी। अब इस प्रयोग के बिना मानवता का कदम आगे नहीं बढ़ेगा।

नैतिक दबाव क्षम्य

प्रश्न होता है कि क्या सत्याग्रह में किसी प्रकार का बल-प्रयोग, दबाव (को-अर्शन) विहित है? प्रो० केसी ने एक पुस्तक ही लिखी सन् १९१८ में, 'अहिंसक बल-प्रयोग' (नान वायलेंट को-अर्शन)। बल-प्रयोग से मतलब है, जबरदस्ती। क्या, अहिंसक जबरदस्ती हो सकती है? अहिंसा में भी क्या बल-प्रयोग की गुंजाइश है? प्रतिकार में समझाने के अतिरिक्त जो कुछ करना पड़ता है, वह समझाने के लिए नहीं, मनवाने के लिए होता है। इसमें दबाव आता है। इसमें उतना ही दबाव विहित है, जितना कि अपने आत्म-क्लेश से दूसरे के हृदय को द्रवित कर सकता है, असर कर सकता है। यह किसलिए माना है? शस्त्र-शक्ति का हमने निषेध किया। बुद्धि-शक्ति कुंठित हो गयी। लेकिन परिस्थिति में अपनी बात मनवाने की आवश्यकता तो है। ऐसे प्रसंग में क्या किया जाय? अपने आत्मक्लेश से और त्याग से प्रतिपक्षी का हृदय-परिवर्तन करेंगे। यह दबाव तो है, लेकिन नैतिक दबाव है। इतना दबाव गांधी के सत्याग्रह में क्षम्य है। यह दबाव भी असल में सत्याग्रह के लिए विषम या प्रतिकूल हो सकता है। लेकिन प्रत्यक्ष प्रयोग में नैतिक दबाव क्षम्य है। जागरूक समाज के वातावरण में हर इंच पर लोकमत का दबाव सोलह पौंड होता है। हमको उसका पता भी नहीं चलता।

समाज की सद्भावना का जो अव्यक्त दबाव होता है, उसे नैतिक दबाव कहते हैं। चारित्र्य के प्रभाव का भी मतलब नैतिक दबाव ही है। समाज में इसे प्रतिष्ठा या वजन कहा जाता है। यह पैसे का वजन या प्रतिष्ठा नहीं है, सत्ता का भी नहीं है। ऐसा नैतिक दबाव मानवता के विकास के लिए विरोधी नहीं है।

राँची-शिविर
१३-५-'६८

: ६ :

भारतीय राष्ट्रीयता का प्रश्न

हमारे सामने आज एक बहुत बड़ी समस्या है—इस देश की एकता की, भारतवर्ष की एकता की, एकात्मता की। 'भारतवर्ष' नाम पुराना है। कितना पुराना, कह नहीं सकते। जिसके नाम पर यह देश कहलाया, वह भरत कौन था—राम का भाई था? दुष्यंत का पुत्र था?—हम नहीं जानते। लेकिन महाभारत में आरम्भ में जो श्लोक है, उसमें 'भारत' शब्द आता है। **"अथ ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम्।"** दूसरे पुराण में भी वर्णन है :

उत्तरं यत् समुद्रस्य, हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम, भारती यत्र सन्ततिः॥

पुराने जमाने में मनुस्मृति (बनने) तक कुछ प्रदेशों के नाम आते हैं, जैसे, ब्रह्मावर्त, मध्यदेश, आर्यावर्त, दक्षिणापथ। और भी कुछ वर्णन भारतवर्ष को लेकर आते हैं, लेकिन आज हम भारत जिसे कहते हैं, उस समूचे भारत देश का वर्णन कहीं नहीं आता। फिर भी एकता की एक भावना पुराने भारतवर्ष में थी। उस भावना के दो अंश थे : एक 'यही हमारी मातृभू है' और दूसरा 'यही हमारी पुण्यभू है।' यहाँ से कहीं बाहर हमारी पुण्यभू नहीं थी। जैसे बोधगया लंका और ब्रह्मदेश के लिए पुण्यभू है, मक्का मुस्लिमों की पुण्यभू है, येरूशलम ईसाइयों की पुण्यभू है। ये सब तीर्थ-स्थान उनके देशों से बाहर हैं। लेकिन भारतवासियों के लिए भारत ही पुण्यभू थी।

एकात्मता थी, राष्ट्रीयता नहीं

यह एकात्मता थी, भावनात्मक एकता थी। इस एकात्मता का आधार था एक धर्म और एक भाषा। यह भाषा किसी समुदाय की स्वाभाविक भाषा नहीं थी, इसलिए उसको देवभाषा कहा। और उस भाषा की जो लिपि थी, उसको देवनागरी कहा गया। यह भाषा और लिपि जहाँ चलती थी, वह नगरी किसी राजा की नहीं थी, वह देवनगरी थी, विश्वनगरी थी। जैसे रोमनगरी इटर्नल सिटी मानी जाती थी, वहाँ पोप का राज्य चलता था, वैसे काशी भी अमरपुरी मानी गयी।

लेकिन इस एकता को हम आधुनिक अर्थ में राष्ट्रीयता नहीं कह सकते। राष्ट्रीयता में ये सारी बातें तो आती हैं, लेकिन यही राष्ट्रीयता नहीं है। जब हम भारत का विचार करते हैं, तब अमेरिका-इंग्लैंड के नमूने सामने रखते हैं। लेकिन यहाँ जो सांस्कृतिक और भाषिक एकता थी, वह इनमें से किसी भी भूखण्ड में नहीं थी। इसलिए ये नमूने इस देश के लिए लागू नहीं होते। जो-जो यहाँ आया, सिकन्दर से लेकर औरंगजेब तक, सबने कहा, इस देश में कुछ अलगपन है। अंग्रेज जरा ज्यादा चिकित्सक थे, उन्होंने भी यह स्वीकार किया। हर्बर्ट रिस्ले ने 'पीपुल्स ऑफ इंडिया' किताब लिखी। उसमें कहा है, यहाँ बहुत विविधता है; इतनी विविधता दूसरे किसी भूखण्ड या महादेश में नहीं है। और फिर भी यहाँ कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो दूसरों से भारत को अलग करती हैं। लेकिन यह राष्ट्रीयता नहीं थी। क्योंकि भारतीय नागरिकता तब तक अस्तित्व में नहीं आयी थी। भारतीय नागरिक नाम का प्राणी मुसलमानों के जमाने में भी नहीं था।

अंग्रेजों की देन

हिन्दुस्तान शब्द कब आया, कैसे आया, कोई कह नहीं सकता। किसीने कहा 'सिन्धु' से आया, किसीने कहा 'इन्दु' से आया। लेकिन 'हिन्दु' और 'स्तान' शब्द बाद के थे। मुसलमानों ने भी भारतीय नागरिकता का निर्माण नहीं किया। उनका वह उद्देश्य ही नहीं था। उनकी संस्कृति में यह चीज ही नहीं थी। सर विलियम हंटर और ली वार्नर नाम के दो अंग्रेज थे, जिन्होंने पहले-पहल 'सिटिजन ऑफ इण्डिया' शब्द का प्रयोग किया। भारतीय नागरिकता अंग्रेजों के जमाने से ही इस देश में कायम हुई। अंग्रेजों की इस देश को तीन मुख्य देनें हैं। एक, कानून के सामने सब समान हैं। इसके पहले यह नहीं था। मुसलमानों के जमाने में कुछ, थोड़ा समय छोड़कर हिन्दू गौण नागरिक था। औरंगजेब वगैरों के जमाने में तो उस पर 'जजिया' कर लगाया गया था। अंग्रेजों के जमाने में काले-गोरों का थोड़ा भेद था, लेकिन उसको भी भारत के लोग बरदाश्त नहीं करते थे। फिरोजशाह मेहता, गोखले इसका उग्र भाषा में विरोध करते थे। और अंग्रेज उस विरोध का निषेध नहीं करते थे। मुसलमानों की सल्तनत में यह सम्भव नहीं था। अंग्रेजों की दूसरी देन यह थी कि अस्पृश्य से लेकर ब्राह्मणों तक और मुसलमानों, ईसाइयों को भी, सबको एक ही शिक्षण मिलने लगा। सबके लिए शिक्षण के द्वार खुले हो गये। इससे पहले जयकर जैसे विद्वान् को भी कोई ब्राह्मण वेदशास्त्र सिखाने के लिए तैयार नहीं था, आंबेडकर की तो बात ही छोड़ दीजिए। अंग्रेज न आते

तो आंबेडकर, जगजीवनराम हो ही नहीं सकते, न जयपाल सिंह हो सकते थे। अंग्रेजों की तीसरी देन यह है कि हर मनुष्य के एक वोट है। इसकी कल्पना इस देश में कभी नहीं की गयी थी। जिस शिक्षण को आज इतना दोष दिया जाता है, उस शिक्षण को मैं इस सबकी बुनियाद मानता हूँ। इसी कारण यह 'रेनासन्स'—राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन—हुआ। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से जो शिक्षण हुआ, उस शिक्षण की माँग राममोहन राय ने की। विक्टोरिया रानी को पत्र लिखा कि इस देश में अंग्रेजी शिक्षण दिया जाना चाहिए। उन्होंने अंग्रेजी में अखबार निकालने की चेष्टा की। इस प्रकार सांस्कृतिक संजीवन का आरम्भ हुआ। राममोहन राय से पहले इस देश में ऐसे लोग थे, जिन्होंने अंग्रेजी सत्ता का निर्मूलन करना चाहा, लेकिन उनमें से किसीके मन में सांस्कृतिक पुनस्संकरण की कल्पना नहीं थी। बल्कि जिन-जिन लोगों ने इससे पहले सशस्त्र क्रांति का प्रयत्न किया था, वे सब प्राचीन भारतीय परंपरा को पुनः कायम करना चाहते थे। वे सब पुराणमतवादी थे। वे अंग्रेजों से इसलिए नाराज थे कि अंग्रेज इस देश में से पुरानी संस्कृति का अन्त करना चाहते थे। पहले के जितने उग्रमतवादी देशभक्त थे, परंपरावादी पुराणमतवादी थे। राममोहन ने इनसे अलग प्रकार की चेतना जागृत करने की कोशिश की। वहाँ से इस देश में सांस्कृतिक और धार्मिक पुनस्संस्करण हुआ।

धर्म के तीन अंग : अध्यात्म, ईश्वर, परलोक

जब हम धर्म का विचार करते हैं, तब दो बातें ध्यान में आती हैं। एक तो यह कि धर्म के तीन अंग हैं। एक अंग है अध्यात्म, जो मुक्ति से संबंध रखता है। मुक्ति का अर्थ है सुख-दुःख से मुक्ति, शारीरिकता से मुक्ति, विकार और वासनाओं से मुक्ति। 'अध्यात्म' में दो शब्द हैं, अधि + आत्मा। आत्मा के विषय में जो है, वह। धर्म का दूसरा अंग ईश्वरविषयक है। ईश्वर और मनुष्य का एक-दूसरे के साथ क्या सम्बन्ध हो, इस विषय का विवेचन इस अंग में है। तीसरा अंग वह है, जिसका सम्बन्ध परलोक से है—मरणोत्तर जीवन से। अध्यात्म का सम्बन्ध मरणोत्तर जीवन से नहीं है। अध्यात्म तो कालनिरपेक्ष है। ईश्वर-विषयक जो अंग है, उसका भी सम्बन्ध परलोक से नहीं है। परलोक से सम्बन्ध जिस अंग का है, उसका नाम है कर्मकांड। इस कर्मकांड का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। अध्यात्म सभी धर्मों के लिए समान है। थोड़ा अन्तर दर्शन में हो सकता है, लेकिन मुक्ति के विषय में सभी धर्मों की समान उत्कंठा है। मुक्ति के स्वरूप के विषय में अलग-अलग कल्पनाएँ हो सकती हैं। ईश्वरपरायणता को भी धर्मों ने माना है। ईश्वर के स्वरूप के विषय में मतभेद हो सकते हैं, लेकिन

ईश्वर के गुणों के विषय में मतभेद नहीं है। ईश्वर को सबने सगुण माना। किसी-ने सगुण-साकार माना, किसीने सगुण-निराकार माना। लेकिन ईश्वर को गुणों का स्रोत और गुणों का पुञ्ज सबने माना। नैतिकता भी सब धर्मों में समान है। जितनी चीजें सब धर्मों में समान हैं, उतनी आपस में कट जाती हैं। उनको हमने धर्म नहीं माना है। हमने, यानी किसीने, नहीं माना है। एक मुसलमान खुदापरस्त है, एक हिन्दू ईश्वर-परायण है, लेकिन ये दोनों हिन्दू और मुसलमान हैं ही। ये दोनों एक नहीं हैं। ईश्वरपरायणता में हिन्दुत्व नहीं है और खुदापरस्ती में मुसलमानत्व नहीं है। फिर किस चीज में है? मुहम्मद को आखिरी पैगंबर मानने में मुसलमानत्व है। कुरान को मानने में, खतने में मुसलमानत्व है। हिन्दुत्व ग्रन्थ-प्रामाण्य के साथ, गुरुप्रामाण्य के साथ जुड़ा हुआ है। दो मुक्त पुरुष हैं, तो हिन्दू मुक्त पुरुष हिन्दू है और मुसलमान मुक्त पुरुष मुसलमान है। दोनों अलग ही रह जाते हैं। एक सच बोलनेवाला हिन्दू है, एक सच बोलनेवाला मुसलमान है; फिर भी एक हिन्दू है, और एक मुसलमान है। नागरिकता में आपने क्या माना है? कोई हिन्दू नहीं, कोई मुसलमान नहीं। परन्तु धर्म में आप क्या कहते हैं? तुम चाहे बदफैली, दुराचारी क्यों न हो, लेकिन हिन्दू हो, इसलिए अच्छे-से-अच्छे मुसलमान से श्रेष्ठ हो। इसका अर्थ यही हुआ न कि अध्यात्म, ईश्वरनिष्ठा, नैतिकता को तर्क करके जो बचता है, वही धर्म है। इसीका नाम संप्रदाय है, क्योंकि यह संगठित मन्तव्य है। इसका सम्बन्ध परलोक से है, और परलोक किसीने देखा नहीं है। जो कहते हैं, हमने देखा है, पता नहीं उन्होंने क्या देखा होगा। श्रीकृष्ण के एक चित्र का किसीने ध्यान किया, उसी रूप में उसको श्रीकृष्ण दीखे। अब उससे पहले साक्षात्कार तो उसको ही हो गया था, जिसने चित्र बनाया। ईश्वर के विविध रूपों की कल्पना हमारे चित्त की कल्पना है। इसलिए इनमें विवाद खड़ा होता है।

सम्प्रदायों में संघर्ष

सम्प्रदाय में संख्या मुख्य है, मनुष्यों की तादाद मुख्य है, मनुष्य और ईश्वर मुख्य नहीं है। एक आपका ईश्वर है और दूसरा मेरा ईश्वर है। ईश्वर ईश्वर समान संख्या की तरह कट गये। रहे आप और मैं। इसलिए संप्रदायों में संघर्ष है। संप्रदायों में जब से संघर्ष है, तब से उनमें ईश्वर नहीं रहा, ईश्वर की गद्दी पर शैतान सवार हो गया। जब तक एक है, तभी तक वह ईश्वर है। जहाँ अनेक हो गये, वहाँ सबके सब शैतान हो गये। गोल्डस्मिथ ने एक दफा विनोद में कहा, "मैं अपने जूते जिस तरह मोची से लेता हूँ, उसी तरह अपना धर्म पुरोहित से लेता हूँ।" यह धर्म नहीं है। यह केवल एक आभूषण है। यह सम्प्रदाय का

कलेवर है। सम्प्रदाय संगठन-प्रधान और संस्था-प्रधान है। उसमें न सदाचार होता है, न मुक्ति होती है और न ईश्वर होता है। राममोहन राय ने देखा कि हमारे देश में सम्प्रदाय एक-दूसरे के अगल-बगल में जीते हैं, जो अन्य देशों में इतने नजदीक नहीं आये, एक-दूसरे के इतने सम्पर्क में नहीं आये। टॉयन्बी ने कहा है कि भारत छोटे-से दायरे में सटी हुई एक स्वतंत्र दुनिया ही है। एक तरह से जगत् की एक संक्षिप्त प्रतिकृति है हमारा देश। रवि ठाकुर ने लिखा, "एई भारतेर महामानवेर सागरतीरे" तो राजा राममोहन राय ने क्रिश्चनों के सम्पर्क से उनके गुणों को आत्मसात् करने की कोशिश की। इससे एक बड़ा पुनस्संकरण हो सकता था। हिन्दू-समाज में से लोग निरन्तर दूसरे धर्मों में जाते रहे। इसलाम में जितने गये, उतने सारे के सारे डर और लालच के कारण नहीं गये। हिन्दू-समाज में समानता नहीं थी, विषमता थी। इतना ही नहीं, हिन्दू-समाज एक बन्द समाज था। उसमें से बाहर जाने के दरवाजे थे, अन्दर आने के नहीं थे। ऐसे समाज में जो लोग विषमता से तंग आ गये, वे क्या करें? दो ही उपाय थे। धर्मान्तर या जन्मान्तर। इसलाम में मुसलमानों की हद तक जो समानता थी, उसका हिन्दू-समाज की निचली जातियों को आकर्षण हुआ और यह बहुत स्वाभाविक था। इसलिए मुस्लिम-समाज में लोग लगातार जाते रहे।

राममोहन राय के प्रयत्न

राममोहन राय ने कुरान, अरबी, फारसी, अंग्रेजी, बाइबिल, संस्कृत, उपनिषद् सबका अध्ययन किया। बाद में वे इस नतीजे पर आये कि ईसाई धर्म में कुछ बातें ऐसी हैं, जो हिन्दू-समाज में आनी चाहिए। उनमें से एक बात यह है कि मानव-सेवा ही ईश्वर-सेवा है। हमारे लोग परलोक के लिए घाट बनवा देते थे, मन्दिर बनवा देते थे; लेकिन कुष्ठरोगी की सेवा को ईश्वर की सेवा नहीं मानते थे। दूसरे धर्मों ने भी यह नहीं माना। अंग्रेजों के आने के पहले केवल लोकसेवा की संस्थाएँ इस देश में थी नहीं। यह पश्चिम की संस्कृति का अनुकरण नहीं है। उसका सत्कार और स्वीकार है और उसकी एक कलम हिन्दू-समाज पर राममोहन राय प्रभृति लगाना चाहते थे। इसलिए ब्राह्म समाज आया। बंगाल के बहुतांश महान् नेता और चिन्तक इसमें थे। केशवचन्द्र सेन, प्रतापचन्द्र मजूमदार, सीतानाथ तत्त्वभूषण, देवेन्द्रनाथ ठाकुर आदि। उस वक्त की जो भारतीय संस्कृति थी, उसका आधुनिकीकरण करने का उनका प्रयास था। इसी तरह का एक प्रयास बम्बई में हुआ। उसका नाम था, प्रार्थना समाज। रानडे उसके संस्थापकों में थे। राममोहन राय ने दो चीजें और कीं। सती

की प्रथा कानून से बन्द करायी। 'हुक स्विंगिंग' बन्द कराया। हुक स्विंगिंग एक अत्यन्त क्रूर और बर्बरतापूर्ण खेल था। यह प्रथा भी कानून से बन्द करायी। तीसरी चीज यह थी कि विधवा-विवाह के लिए आन्दोलन किया। इसमें ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भी शामिल थे। ब्राह्मसमाज में जात-पाँत थी नहीं। ये सभी उत्कट देशभक्त थे। लेकिन अंग्रेजों के प्रति उग्र विरोध-भावना इनमें नहीं थी। इसलिए क्रिश्चॅनिटी के साथ जो मानवीय दर्शन यहाँ आया, उसका उन्होंने सत्कार और स्वीकार किया।

थियॉसॉफिकल सोसाइटी

इसके बाद थियॉसॉफिकल सोसाइटी आयी। थियॉसॉफिकल सोसाइटी की स्थापना अमेरिका में सन् १८७५ में हुई। उसके संस्थापक थे मॅडम ब्लॅव्हट्स्की और कर्नल ऑलकॉट। इसमें सारे धर्मों में जो सामान्य हिस्सा है, उत्कृष्ट हिस्सा है, उसे संगृहीत कर लिया। सारे धर्मों का नवनीत निकाल लिया। इसमें से सब धर्मों की एकता सिद्ध हो जाती है। सन् १८७६ में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य-समाज की स्थापना की। स्वामी दयानन्द एक अर्थ में हिन्दू-समाज के मार्टिन लूथर कहे जा सकते हैं। मार्टिन लूथर ने यूरोप में रेफरमेशन किया। बाइबिल भिन्न-भिन्न भाषाओं में लिखी गयी। स्वामी दयानन्द ने वेद को माना, लेकिन स्मृति और पुराणों को नहीं माना। स्त्रियों का उपनयन कराया। वेदों में जितना देवों का वर्णन है, बुद्धिवाद से उसका अर्थ लगाया और अपने वेदभाष्य का नाम रखा, 'सत्यार्थप्रकाश'। लेकिन इसके साथ एक दूसरी लहर दौड़ी। वह थी, सांस्कृतिक अभिमान की। अब तक भारत को पश्चिम से सीखना था। इसमें से एक प्रकार की स्वाभिमानशून्यता आयी। उस जमाने के पढ़े-लिखे लोग अपने प्राचीन ऋषि-मुनियों की अवहेलना करने लगे थे, उपहास करने लगे थे। स्वामी दयानन्द को यह चीज खटकी। तब सांस्कृतिक अभिमान का अभियान आरम्भ हुआ। स्वामी दयानन्द ने सारे भारतवर्ष में शंकराचार्य की तरह दिग्विजय की यात्रा की। तो यह आर्यसमाज एक तरह से ब्राह्मसमाज की विरोधी वृत्ति में से उत्पन्न हुआ। दयानन्द के निमंत्रण पर ही थियॉसॉफिकल सोसाइटी इस देश में आयी। यहाँ आने के बाद एनी बेसंट ने उसका नेतृत्व स्वीकार किया। एनी बेसंट के साथ यहाँ के डॉ० भगवानदास थे। उसीके तत्त्वावधान में सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज की स्थापना हुई। वहाँ हिन्दू-धर्म सिखाना शुरू किया। थियॉसॉफी क्या थी? सारे धर्मों की उत्कृष्टता का संग्रह।

सामुदायिक प्रार्थना

इसके बाद रामकृष्ण परमहंसदेव आये। इन्होंने सारे धर्मों की प्रत्यक्ष साधना का आचरण किया और साक्षात्कार के स्तर पर किया। काली माँ की भक्ति से लेकर वाममार्ग और तंत्र तक तथा इसलाम और ईसाई धर्म तक सारे संप्रदायों का अनुष्ठान किया और अपने अनुभव से कहा कि सारे धर्मों के अनुष्ठान से मनुष्य एक ही जगह पहुँचता है। ऐसी परिस्थिति में गांधी का आविर्भाव हुआ। गांधी ने कहा, सारे धर्मों का सह-अवस्थान नहीं, सह-अस्तित्व इस देश में अगर होता है तो केवल संतों की अनुभूति से समाधान मानना पर्याप्त नहीं है। भारत में सब धर्म एक-दूसरे के पड़ोस में आये हैं। उन्हें एक-दूसरे के निकट लाने की आकांक्षा हो, तो सब धर्मों के लिए समादर होना चाहिए और वह हमारे व्यावहारिक जीवन में प्रकट होना चाहिए। इसलिए गांधी की सामूहिक प्रार्थना और आर्यसमाज, ब्राह्मसमाज की सामूहिक प्रार्थनाओं में अंतर है। इसकी भूमिका थोड़ा-बहुत तो स्वामी विवेकानन्द के जमाने से बन रही थी। विवेकानन्द इस देश के धर्म का सन्देश अमेरिका तक ले गये। विवेकानन्द को हिन्दू-धर्म का नेपोलियन कहा जाता है। गांधी का यह कहना था कि किसीको दूसरे के धर्म का आचरण करने की जरूरत नहीं होनी चाहिए। सब धर्म समान हैं, तो अपने-अपने धर्म का आचरण करें और एक-दूसरे के साथ प्रेम तथा आदर से रह सकें, इसलिए सामुदायिक प्रार्थना आयी।

सामुदायिक प्रार्थना उन लोगों की है, जो सब मिलकर ईश्वर से एक ही चीज माँगते हैं। सामुदायिक प्रार्थना में समान भावना और समान संकल्प की आवश्यकता होती है। सामुदायिक प्रार्थना, सामुदायिक कताई और सामुदायिक सफाई, गांधी ने ये तीन प्रतीक दिये। सामुदायिक प्रार्थना में 'ईश्वर अल्लाह' प्रतीक थे। लेकिन सामुदायिक प्रार्थना में मैं बैठा हूँ और ये हमारा जमशेदपुर का अयूब भी बैठा है। ईश्वर का नाम आते ही मेरा दिल भक्ति से भर जाता है, 'अल्लाह' का नाम लेते ही अयूब का दिल भर आता है। लेकिन ईश्वर कहने से उसके दिल पर कोई असर नहीं होता और अल्लाह कहने से मेरे दिल पर कोई असर नहीं होता, तो सामुदायिक प्रार्थना व्यर्थ है। धर्म व्यावर्तक नहीं होता। व्यावर्तक से मतलब है 'एक्स्क्लूजिव्ह'। मैं हिन्दू हूँ, इसका मतलब यह नहीं है कि मैं मुसलमान नहीं हूँ, ईसाई नहीं हूँ, पारसी नहीं हूँ। मैं भारतीय हूँ, इसका मतलब यह नहीं है कि मैं अमेरिकन नहीं हूँ। विनोबा ने एक जगह लिखा है, मैं 'कायस्थ भी हूँ'

(काया में रहता हूँ), 'देशस्थ भी हूँ' (देश में रहनेवाला) और ये दोनों हूँ, इसलिए 'स्वस्थ' हूँ। व्यावर्तक भावना धर्म की नहीं, संप्रदाय की होगी।

सारे सम्प्रदाय परलोकवादी

लोग कहते हैं, हमारे देश में कुछ अतिभारतीयतावादी हैं। जैसे मुसलमान, और कम्युनिस्ट। ये भारत से बाहर कहीं और जगह निष्ठा रखते हैं। इन सबको यह देश छोड़ देना चाहिए। मैं कहता हूँ हम सबको यह संसार छोड़ देना चाहिए, क्योंकि हम तो परलोकवादी हैं। जितने संप्रदाय हैं, उतने सब परलोकवादी हैं। इसलिए विनोबा इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि राजनीति की तरह अब धर्म का जमाना भी लद गया है। विश्वधर्म की भी स्थापना नहीं हो सकती। संगठन-कार्य अखिल मानवीय नहीं हो सकता। राजनीति, मजहब, संप्रदाय, धर्म इनके दिन अब लद गये। मनुष्य को अगर बचाना है, और ईश्वर को बचाना है, तो आइंदा ये नहीं रहने चाहिए।

सम्प्रदाय की पहचान

इस देश में पहले-पहल जो संप्रदाय आया, वह इसलाम था। इसलाम संप्रदाय है, हिन्दू संप्रदाय नहीं है। संप्रदाय का क्या लक्षण है ? जिसे ले सकते हैं, जिसमें जा सकते हैं वह संप्रदाय है। मुसलमान आप बन सकते हैं, बौद्ध बन सकते हैं, ईसाई, सिख बन सकते है, लेकिन हिन्दू बन नहीं सकते। आर्यसमाजवालों ने कहा, आप बन सकते हैं, लेकिन आर्यसमाजी बन सकते हैं, हिन्दू नहीं बन सकते। संप्रदाय की दूसरी एक पहचान है। संप्रदाय में व्यक्ति भी होता है, समाज भी होता है। मुसलमान व्यक्ति है, मुसलमान समाज है। सिख व्यक्ति है, सिख समाज भी है। परन्तु हिन्दू व्यक्ति ही है, हिन्दू-समाज वास्तविकता नहीं है। पहले जो मैंने हिन्दू-समाज का उल्लेख किया, वह सिर्फ हिन्दू-संप्रदाय नहीं है—इस अर्थ में। जिस समाज में जाति होगी, उस समाज में सांप्रदायिकता नहीं होगी। आप कौन हैं, कायस्थ हैं। आप कौन हैं, राजपूत हैं। जातिबद्ध समाज संकुचित, संकीर्ण समाज है। जो अन्य समूहों से विमुख होता है, ऐसा समाज। संप्रदाय में दरवाजा खुला होता है। जाति में प्रवेश का दरवाजा ही नहीं होता। क्या आप किसीको ब्राह्मण बना सकते हैं ? विश्वामित्र ने साठ हजार साल तक तपश्चर्या की, मुश्किल से ब्राह्मण कहलाया। तब भी उसका समर्थन देना पड़ा कि इसकी माता या पिता में से कोई एक तो ब्राह्मण ही था, इसलिए ब्राह्मण बन सका।

यही हिन्दू-समाज की कमजोरी है। हिन्दू-समाज की कमजोरी शरीर में या बुद्धि में नहीं है, उसकी जाति-संस्था में है। यह हिन्दू-समाज नखशिखांत शस्त्रों

से लैस हो जाय, तब भी उसमें जब तक जातिभेद है, तब तक शक्ति नहीं आयगी। इस समाज में जाति की दीवार है, फिर भाषा की दीवार है, यह शतधा विदीर्ण शतखण्ड समाज है।

'हिन्दू' की व्याख्याएँ

इस देश में साम्प्रदायिकता का जनक मुसलमान है। संप्रदाय हमेशा आक्रमणशील होगा। क्योंकि उसमें कोई भी जा सकता है। उसमें निमंत्रण है, और लाने की कोशिश भी है। वे मानते हैं कि इसमें जो आयगा, उसीका कल्याण होगा। ईसाइयों को हम सौ-सौ बार कोसते हैं। लेकिन उन्होंने आदिवासियों को, नागाओं को, और दूसरों को मनुष्य बनाया। हम तो उनको पशु भी नहीं रहने देते। इसमें से हिन्दू-समाज का संकट उत्पन्न हुआ। संप्रदायवाद के जवाब में हमने क्या सोचा ?—प्रतिसंप्रदायवाद। लेकिन हिन्दू-समाज एक चुस्त संप्रदाय बन नहीं सकता। हिन्दू व्यक्ति कहीं है ही नहीं। सन् १९०८ में मोर्लेमिंटो रीफार्म आया। मुसलमानों ने अलग निर्वाचन की माँग की। तब दो विभाग हुए, मुस्लिम और गैर-मुस्लिम। तब माँग हुई कि हिन्दुओं का भी अलग निर्वाचन होना चाहिए। प्रश्न आया, हिन्दू किसे कहें ? आदिवासियों ने भी कहा, अलग निर्वाचन चाहिए। तो हिन्दुओं का ऐसा लक्षण चाहिए था, जो सभी के लिए लागू हो। सन् १९१० में हिन्दूसभा की स्थापना हुई। हिन्दू की व्याख्या करने की कोशिश उस वक्त की गयी। लेकिन दीर्घ प्रयत्न के बाद भी, प्रकाण्ड पंडितों के प्रयत्नों के बाद भी, अब तक व्याख्या नहीं हो सकी है। न्यायमूर्ति गुरुदास बनर्जी ने कहा, "हिन्दुत्व की ऐसी व्याख्या हो ही नहीं सकती, जो लीगल (विधियुक्त) भी और तर्कशुद्ध भी हो।" न्यायमूर्ति चिंतामणि विनायक वैद्य ने व्याख्या करने की कोशिश की तो कहा, "जो अपने को हिन्दू कहलाता है, वह हिन्दू।" तब हरिजनों, आदिवासियों ने, बौद्धों-जैनों ने कहा, "हम हिन्दू नहीं हैं।" इसलिए बाद में सावरकर की व्याख्या आयी, "जिसकी यह भारतवर्ष पुण्यभू और पितृभू है, वह हिन्दू है।" इसमें न वेद-प्रमाण रहा, न चातुर्वर्ण्य रहा और न शिखासूत्र ही रहे। सावरकर की व्याख्या में भी एक दोष था। वह हिन्दुत्व की परिभाषा तो हो ही सकती थी, लेकिन वह राष्ट्रीयत्व की परिभाषा, व्याख्या नहीं हो सकती है। मुस्लिमों का दावा था इस्लामियत ही राष्ट्रीयत्व है। इसका प्रतिवादी दावा हुआ। हिन्दुत्व ही राष्ट्रीयत्व है। हिन्दुत्व ही राष्ट्रीयत्व हो नहीं सकता। क्योंकि ईसाई की यह पुण्यभू नहीं है। यहाँ के ज्यू, पारसी आदि जितने अन्यधर्मीय हैं, उनकी यह पुण्य-भू नहीं है। इसके विपरीत नेपाल के हिन्दुओं की यह पितृभू नहीं है। केवल पुण्यभू ही है। इसलिए हिन्दुत्व ही राष्ट्रीयत्व नहीं हो सकता।

'हिन्दुत्व' सांप्रदायिक भी नहीं है। इसमें दर्शन की व्यापकता है, विचार का स्वातंत्र्य है। विवेकानन्द ने कहा था कि यह मनुष्यमात्र का धर्म है। लेकिन इसके तत्त्वज्ञान में अद्वैत है और व्यवहार में विषमता है, जाति-भेद है। जातिधर्म का महत्त्व हिन्दू के लिए नैतिकता से ज्यादा माना गया। परिणाम यह हुआ कि हमारे समाज में भ्रष्टाचार भी पाप नहीं माना गया। शर्त एक ही है कि हिन्दू अपने जातिधर्म का पालन करता रहे, तो उसे सद्गति मिलेगी।

कमजोरियों का इलाज ?

ये कमजोरियाँ हैं, जिनके कारण यहाँ के धर्म एक-दूसरे के साथ नहीं रह सकते। इसके लिए क्या करना होगा ? सबसे पहले अस्पृश्यता का निवारण करना होगा। गांधी ने बहुत पहले कहा था कि वर्णधर्म चाहिए। वर्ण की व्याख्या की थी, 'वर्ण एटले धंधो', वर्ण यानी धंधा। लेकिन बाद में उसके ध्यान में आया, धंधे के आधार से ही आज की जातियाँ पनपी हैं। व्यवसाय में विशिष्टीकरण आया। व्यवसाय में निपुणता आनी चाहिए। कैसे आयेगी ? बाप का व्यवसाय बेटा करेगा तो आयेगी। परंपरा से, आनुवंशिकता में से आयेगी। माँ भी उसी व्यवसाय के घर की होनी चाहिए। इस तरह से व्यवसाय जन्माश्रित हो गये। दयानन्द, तिलक और दूसरे कुछ लोगों ने कहा, जन्म से नहीं, गुणकर्म से जाति सिद्ध होगी। इसमें क्या होगा ? बेटा पाँच साल का हुआ तब लगा, चित्रकला की तरफ झुकाव है, फिर पाँच साल के बाद मालूम होता है लड़का यंत्रों में रस लेता है। तो मरने तक जाति निर्धारित ही नहीं हो सकेगी। यह अपसिद्धान्त है। जाति यदि जन्म से नहीं, तो होगी ही नहीं। अब आनुवंशिकता में भी कितना तथ्य है ? कम्युनिस्ट वैज्ञानिक तो इसको मानते ही नहीं हैं। वे बिहेविअरिस्ट्स हैं। उनका कहना है कि परिस्थिति में से मनुष्य पैदा होता है। हम आनुवंशिकता को प्रधानता देते हैं। लेकिन मनुष्य आनुवंशिकता-प्रधान नहीं है, शिक्षण-प्रधान है। मनुष्य प्राकृत-प्राणी नहीं है, सुसंस्कृत प्राणी है।

जाति विवाह से बनी, इसलिए उसमें गुणकर्म की बात नहीं चली। जाति और व्यवसाय जन्माश्रित रहे। वर्ण तो चार ही थे। वे जन्म से बने। गांधी ने यह देखा कि जाति तो संकर से बनी है। मिश्रित रक्त का नाम संकर है। शुद्ध रक्त का अभिमान ही रेशालिटी (वंशवाद) है। यही ट्राइबिलिज्म है। मेरा रक्त शुद्ध है, दूसरे का अशुद्ध है। जो दूसरे का रक्त अशुद्ध मानता है, उसमें सामाजिकता नहीं होती। शुद्ध रक्त के लिए जातियों में शुद्धि की बात आयी। उपजातियों में शादी नहीं होनी चाहिए। इसमें से सामाजिकता की तरफ एक कदम जवाहरलालजी ने बढ़ाया, 'हिन्दू कोड बिल' के रूप में। मेरा

विवाह, क्षत्रिय का विवाह और हरिजन का विवाह आज एक पद्धति से नहीं होता। व्रतबंध की विधि सिर्फ द्विजों के लिए ही है। प्राचीन ग्रंथों में चारों वर्णों के लिए कोई एक ही नाम नहीं है। 'हिन्दू' नाम बाद में आया। 'आर्य' शब्द है, लेकिन उसका धर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। सारे हिन्दुओं का एक संस्कार कोई नहीं है। तब युक्ति निकाली, हिन्दू कोड बिल सबके लिए लागू करो। पुराणप्रिय स्थितिवादियों ने उसके विरोध में कहा, 'सबके लिए लागू करना है तो मुसलमानों के लिए भी लागू करो। अगर मुसलमानों के लिए लागू नहीं होगा तो हमारे लिए भी नहीं लागू होगा'। इस तरह उन्होंने प्रचलित व्यवस्था को बनाये रखने की चेष्टा की।

हिन्दू कोड का अगला कदम है—वांछनीय यह है कि नागरिक मात्र के लिए समान विधान हो, एक ही सिविल लॉ हो। इसमें से सेक्युलरिज्म आया। हिन्दू कोड हिन्दू-समाज की हद तक इसी दिशा में एक आवश्यक कदम है। हिन्दू मात्र के लिए नागरिक विधान एक ही हो। इससे अगला कदम यह होना चाहिए कि धर्म-परिवर्तन गुनाह करार दिया जाय। इस देश में मुसलमान, ईसाई, सिख, बौद्ध आदि के जो सम्प्रदायवाद हैं, वह हिन्दुओं की जातिसंस्था का अपत्य है। इसे गांधी-विनोबा ने पहचाना। इसलिए गांधी ने अन्त में लिखा, जाति-संस्था नष्ट होनी चाहिए। इस जाति-संस्था का विनाश कैसे हो? उदाहरण के तौर पर बताता हूँ, दस साल तक सजातीय विवाह निषिद्ध माने जाने चाहिए। जाति-संस्था बनी जन्म से। जन्म विवाह से होता है। इसलिए इसीसे जातिसंस्था का निराकरण होगा। हिन्दू-समाज में से जितने लोग निर्यात हुए, उतने सब हिन्दू-समाज के दुश्मन बने हैं। जिस दिन धर्म-परिवर्तन बन्द हो जायगा, मुसलमानों का सम्प्रदायवाद ठप हो जायगा।

भाषावाद की प्रतिक्रिया

आज हम जो दूसरी प्रतिक्रिया इस देश में देख रहे हैं, वह है भाषावाद की। एक कहता है, भोजपुरी का राज्य होना चाहिए, दूसरा कहता है, मैथिली का होना चाहिए। फिर संथाल संथालो राज्य क्यों नहीं चाहेगा? अब इसके लिए एक ही उपाय है। भाषिक राज्यों का बनना ही होना गलत था। यह हम कहें। यह कहने की हिम्मत हममें नहीं है। हमने इस देश के टुकड़े-टुकड़े करना शुरू कर दिया है। सम्प्रदाय के साथ हमने भाषा को मिलाया है। सिखों और मुसलमानों ने तो लिपि को भी संप्रदाय के साथ जोड़ दिया है।

भाषा लोगों को मिलाने के लिए पैदा हुई थी। वही भाषा लोगों को आज अलग कर रही है। एक बात आपसे कहूँ—आप सहमत नहीं होंगे—मनुष्य

के कोई खास भाषा नहीं होती है। सारी भाषाएँ, जिसे हम मातृभाषा कहते हैं, वह भी उसे सीखनी ही पड़ती है। इसलिए कोई भाषा अपनी और कोई भाषा परायी नहीं है। जो भाषा भिन्न भाषिकों को एक-दूसरे के निकट लाती है वह समृद्ध भाषा है, उसका साहित्य चाहे समृद्ध हो या न हो। ऐसी भाषा में तीन गुण होते हैं। वह जीवित भाषा होती है, किसी-न-किसीकी रोजमर्रा की बोलचाल की। दूसरी चीज वह भाषा स्वयंस्फूर्त होती है। और तीसरी बात यह कि वह भाषा अन्य पड़ोसी भाषाओं के नजदीक की, उनके कुटुम्ब की भाषा होती है। हिन्दी भाषा में ये तीनों गुण हैं। ऐसी भाषा का विरोध होता है तो वह उस भाषावालों का दोष है।

आज क्या होता है? भाषा का सम्बन्ध जन्म के साथ जोड़ा जाता है। जन्म का सम्बन्ध 'ट्राइब' से है। इसलिए एक तरह से हम सभी ट्राइबल्स हो गये हैं। इस विषय में हमको गांधी-विनोबा से आगे जाना पड़ेगा। इस देश में अंग्रेजी भाषा का विरोध नहीं होना चाहिए। हिन्दी का समर्थन हो सकता है। उच्च शिक्षण का माध्यम एक ही होना चाहिए। आज एक की जगह दो चल सकते हैं, लेकिन चौदह माध्यम बिलकुल नहीं होने चाहिए। अब भारतनिष्ठ मानवता की आवश्यकता नहीं है, मानवनिष्ठ भारतीयता की आवश्यकता है। राष्ट्रीयता एक-दूसरे के साथ रहने के संकल्प का नाम है। भूमि का प्रेम राष्ट्रीयता नहीं है, वह देशभक्ति है। मनुष्यों का पारस्परिक प्रेम ही राष्ट्रीयता है। इसे मैंने मानवनिष्ठ भारतीयता कहा। और ऐसी भारतीयता जगन्निष्ठ अवश्य होगी, क्योंकि उसका आशय ही दुनिया के बराबर व्यापक होगा। पारस्परिकता मनुष्य की विशेषता है और इस पारस्परिकता को भारतव्यापी बनाने का नाम राष्ट्रीयता है।

राँची-शिविर
१३-५-'६८

: ७ :

मानवनिष्ठ अर्थनीति

आर्थिक परिस्थिति पर जब हम विचार करते हैं, तो एक परिवार का और एक समाज का विचार करीब-करीब एक-सा ही होना चाहिए। आर्थिक संयोजन को 'सोशल हाउस कीपिंग' या 'नेशनल हाउस कीपिंग' समझ लीजिये। मैंने दो शब्दों का हमेशा व्यवहार किया है—बाजार और परिवार। पहले मैं मकान और दूकान कहा करता था—दूकानदार को मकानदार बना देना है, दूकान को मकान में बदल देना है।

अमीरी का बोझ

आज सारा अर्थशास्त्र बाजार का हो गया है। वह घर का, परिवार का अर्थशास्त्र नहीं रहा। अर्थशास्त्र में तीन बातों का विचार करना होता है—१. उत्पादन की पद्धति, वितरण की पद्धति; २. उत्पादन के साधन, और वितरण के साधन और ३. उत्पादन के सम्बन्ध अर्थात् उत्पादन और वितरण दोनों के सम्बन्ध। ये तीन चीजें मुख्य रूप से अर्थशास्त्र में आती हैं। मार्क्स का यह खयाल था कि उत्पादन की पद्धति, उत्पादन के औजार और उत्पादन के सम्बन्ध—इन तीनों पर संस्कृति निर्भर है। इन तीनों पर से सांस्कृतिक सम्बन्ध बनते हैं। एक बहुत बड़ी मात्रा में यह बात सही भी है। पूर्ण रूप से सही नहीं है, सौ फीसदी सही नहीं है। लेकिन बहुत बड़ी मात्रा में सही है। उत्पादन की पद्धति में मुख्यतः दो बातों का विचार करना होता है—एक तो आवश्यकताओं की पूर्ति, और दूसरी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो उत्पादक परिश्रम होता है, वह परिश्रम करनेवाले उत्पादक का विकास। परिश्रम में से उसका अपना विकास होना चाहिए। हमारे देश में दुर्भिक्ष है। मतलब, चीजों की कमी है। जितनी जरूरत है, उतनी चीजें हमारे देश में नहीं हैं। इसलिए उत्पादन प्रचुरता के लिए होना चाहिए—चीजों की बहुतायत हो, चीजों की इफरात हो। क्या बहुतायत की कोई हद है? कोई हद नहीं। क्यों? मनुष्य के उपभोग की हद है। मनुष्य की जो उपभोग की शक्ति है, उसकी सीमा है। इसलिए डरने की जरूरत नहीं। मनुष्य-स्वभाव में हमारा अविश्वास है। वह अविश्वास ही बार-बार कहता है, 'संयम करो, संयम करो।' परन्तु उपभोग

को शक्ति सीमित है। दूकान में पेड़ों का ढेर लगा हो, तब भी खाने की शक्ति सीमित है। ढेरभर पेड़े खाने की वासना तभी तक रहेगी, जब तक वे मिलते नहीं हैं। जिसको मिलते हैं, उसको उतनी वासना नहीं रहती। जैसा कि मैंने उस दिन कहा था, अमीरी का बोझ ढोना मनुष्य का स्वभाव नहीं है। अमीरी का बोझ वह तब तक ढोयेगा, जब तक चीजें सबके लिए काफी नहीं हैं, पर्याप्त नहीं हैं। वस्तु की जहाँ विपुलता होती है, वहाँ संग्रह के प्रति विरक्ति उत्पन्न होती है, जो पश्चिम में आज हो रहा है। अतिसम्पन्नता और अतितृप्ति में मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती। समाधान नहीं होता। हमको मनुष्य की तरफ से निराश नहीं होना चाहिए। होता ऐसा है कि जहाँ पर भूख हो, और चीजों की कमी हो, वहाँ सारा ध्यान अन्न में और वस्तु में रहता है। भूखा यह चाहता है कि दुनिया खाने की चीजों की ही बनी होती तो अच्छा होता—पहाड़ सब मिश्री के बने होते, समुद्र सब दही-दूध के बने होते, झरने सब शहद के बने होते। इसीलिए आज हमारे देश में वस्तुओं की प्रचुरता की आवश्यकता है, आकांक्षा है। इस आकांक्षा को हमें भूलना नहीं चाहिए। यह आकांक्षा है और उसके साथ-साथ बेकारी भी है।

बेकारी और फुरसत

पश्चिम में फुरसत है, यहाँ बेकारी है। बेकारी—समय खाली और पेट भी खाली। पेट भरा हुआ और समय खाली है तो फुरसत। फुरसत का सवाल स्वतन्त्रता का सवाल है। असल में फुरसत का अर्थ ही स्वतन्त्रता है। फुरसत का अर्थ उस समय से है, जिसको मैं अपनी मर्जी के मुताबिक बिता सकता हूँ। हम फुरसत का उपयोग कैसे करते हैं, यह सांस्कृतिक समस्या है। हम ताश खेलने में समय बिताते हैं, या मेढ़ों और सांड़ों की टक्कर देखने में समय बिताते हैं या घुड़दौड़ में बिताते हैं या शराब में चूर रहते हैं। यह हमारी संस्कृति का द्योतक है। लेकिन बेकारी का जो प्रश्न है, वह दोनों तरह का है—उद्योग का भी और संस्कृति का भी। क्योंकि समय खाली है, और पेट भी खाली है। तो पहली चीज, ऐसा काम होना चाहिए, जिससे पेट भरे। इस देश में जो उत्पादक परिश्रम होगा, वह ऐसा हो, जिससे इस देश के लोगों की जरूरतें पूरी हों, और जरूरतें पूरी करने का तरीका ऐसा हो कि जो बेकार हैं, उनको काम मिले। और तीसरी चीज यह है कि काम ऐसा हो, जिसमें से उनकी सामाजिकता का, उनकी सामाजिक प्रेरणा का विकास हो। क्रान्ति की प्रक्रिया ऐसी हो कि जिसमें शिक्षण मिले। सांस्कृतिक परिवर्तन और धर्म-परिवर्तन वगैरह बन्द होने के बाद मनुष्य-मनुष्यों

के जो सम्बन्ध स्थापित होंगे, उन सम्बन्धों की स्थापना की प्रक्रिया ऐसी हो, जिसमें से लोगों का प्रशिक्षण हो, जिसमें से लोक-शिक्षण हो। उसी तरह उत्पादन की पद्धति ऐसी हो, जिसमें से मनुष्यता का विकास हो, व्यक्तित्व का विकास हो। व्यक्ति के विकास के तीन अंग हैं : एक—उसकी इन्द्रियों की, उसके अवयवों की शक्ति का विकास होना चाहिए। इसीके लिए सारे औजार बने थे। हाथ की मर्यादा जहाँ आती है, वहाँ हथौड़ा आ जाता है। आँख की मर्यादा जहाँ आती है, वहाँ चश्मा आता है। इस तरह से मनुष्य अपनी इन्द्रियों की, और अपने अवयवों की शक्ति में वृद्धि करता है, बढ़ोतरी करता है, इजाफे करता है। जितने औजार हैं, इन्द्रियों के, हमारे अवयवों के ये इजाफे हैं, उनकी परिपूर्ति के लिए ये सारे उपकरण हैं। करण = इन्द्रिय, उपकरण = इन्द्रिय के नजदीक का। मनुष्य और उसके उपकरणों में एक सांस्कृतिक सम्बन्ध है। उत्पादन तो प्रचुर हो, लेकिन प्रचुर उत्पादन की जो पद्धति हो, उसमें से मनुष्य को मनुष्यता का, उसके व्यक्तित्व का विकास हो।

शिक्षण और संयोजन

यह होगा तो शिक्षण और संयोजन एक-दूसरे के निकट आयेंगे। आज भी शिक्षण और संयोजन एक-दूसरे के नजदीक आयें, इसकी कोशिश है। लेकिन हो क्या रहा है ? संयोजन एक दिशा में जा रहा है, शिक्षण दूसरी दिशा में जा रहा है। इसलिए इंजीनियर्स बेकार हैं। बेचारे विद्यार्थी परेशान हैं। वे जान नहीं पाते, समझ नहीं पाते कि क्या करें ? शिक्षण तो मिला है, लेकिन इस शिक्षण के बाद जिसके लिए शिक्षण मिला है, उसके लिए अवसर नहीं। शिक्षण और संयोजन दोनों एक-दूसरे के निकट आने चाहिए। शिक्षण और व्यायाम भी एक-दूसरे के निकट आने चाहिए। इसका अर्थ है उत्पादन, शिक्षण और व्यायाम—तीनों एक-दूसरे के निकट आयें। इनमें इतना अन्तर न रहे कि उत्पादन में से शिक्षण नहीं मिलता है और उत्पादन में से जरा भी व्यायाम नहीं होता है, व्यायाम अलग से करना पड़ता है। थोड़ा व्यायाम अलग से करना पड़ेगा, हमेशा करना पड़ेगा। लेकिन उत्पादक परिश्रम भी ऐसा चाहिए, जिसमें थोड़ा व्यायाम हो। तब मनुष्य की श्रम-शक्ति का विकास होगा। इसके बाद आता है खेल। खेल का नाम है संजीवन। खेल में या संजीवन में और मनोविनोद में या दिल-बहलाव में अन्तर है। केवल दिल-बहलाव से, केवल मनोविनोद से संजीवन नहीं होता। इसलिए संजीवन को सांस्कृतिक कार्यक्रम कहा है। खेल में से भी गुण का विकास होता है। तो ये चारों एक-दूसरे के नजदीक आ जाने चाहिए। क्या-क्या नजदीक आना चाहिए ?—उत्पादन, शिक्षण, व्यायाम, संजीवन।

एक चीज और है, जिसका विचार मैं इन भाषणों में नहीं कर सकूँगा। इन चारों के साथ अनुबन्ध प्रजनन का भी होना चाहिए। यहाँ प्रश्न आता है लोक-संख्या के नियमन का। यह विषय ऐसा है, जिसका विचार इन भाषणों में मैं नहीं कर सकूँगा। इस अध्ययन से अभी तो हम इतने ही निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कला के उपकरण, उत्पादन के उपकरण, शिक्षण के उपकरण, और खिलौने, इनमें विरोध नहीं होना चाहिए। आज भी बच्चों को खिलौने ऐसे दिये जाते हैं, जिनमें से वे चीज बनाना सीखें। आज के जो खिलौने हैं, उन खिलौनों में यह खास चीज है। खिलौनों का अनुबन्ध शिक्षण और उत्पादन से है। जो पुराने आदर्शवादी सोशलिस्ट थे, उनमें फरियर नाम का एक था। उसने लिखा है कि आदर्श समाज में खेल और परिश्रम में अन्तर नहीं रह जायगा, औजार और खिलौनों में अन्तर नहीं रह जायगा, ऐसा एक दिन आयेगा। यह आदर्श उसने देखा।

बाजार ही बाजार

अब दूसरी चीज। आज उत्पादन किसलिए होता है? आज बाजार है, दूकान है, मकान भी दूकान है। दाम के लिए जहाँ उत्पादन होता है, उस व्यवस्था का नाम पूँजीवाद है—उपभोग के लिए उत्पादन नहीं, दाम के लिए उत्पादन। पूँजीवादी समाज एक बड़ी दूकान है। पूँजीवादी समाज एक बहुत बड़ा मीना बाजार है। वहाँ वितरण भी दाम से होता है, पैसे से होता है। बीमार को दवा बीमारी के बदले में नहीं, पैसे के बदले में मिलेगी, भूखे को अन्न भूख के बदले में नहीं, पैसे के बदले में मिलेगा, विद्यार्थी को विद्या उसकी जिज्ञासा के बदले में नहीं, पैसे के बदले में मिलेगी। भक्त को भगवान् के दर्शन उसकी भक्ति के बदले में नहीं, दक्षिणा के बदले में मिलेगा। इस तरह से घर से लेकर मन्दिर तक बाजार ही बाजार है। विश्वविद्यालय में बाजार है, मन्दिर में बाजार है, घर में बाजार है। जहाँ जाइये, वहाँ बाजार ही बाजार है। कला बिकती है, संजीवन भी बिकता है, मनोरंजन भी बिकता है। मनुष्य की मेहनत बिकती है। जो मेहनत बेचनेवाला है, वह कम-से-कम मेहनत के बदले में ज्यादा-से-ज्यादा दाम चाहता है। मेहनत खरीदनेवाला अधिक-से-अधिक मेहनत के बदले में कम-से-कम दाम देना चाहता है। यह पूँजीवादी व्यवस्था है। इसे सौदा कहते हैं। लेनेवाला अधिक-से-अधिक लेना चाहता है, देनेवाला कम-से-कम देना चाहता है। सौदे में यही होशियारी है। यही बाजार है। आज हमारा समाज इसी तरह का है। इसलिए जो विद्यार्थी विद्या खरीद नहीं सकता,

उस बेचारे की हालत खराब है। होशियार विद्यार्थी एक फाउन्टेनपेन तक नहीं खरीद सकता और गधा विद्यार्थी दस फाउन्टेनपेन खरीद सकता है। जो खेत जोतता है, वह बैल खरीद नहीं सकता। उसके पास एक बैल है। जिसके पास बैल ही बैल है, वह खेत जोतता नहीं। इस तरह से खरीदनेवाले के पास चीज जाती है। उत्पादन पैसे के लिए हुआ। वितरण का आधार विक्रय हुआ। जिसके पास खरीदने की शक्ति होगी, उसीको चीज मिलेगी। इसे बदलने का संकल्प कार्ल मार्क्स ने किया। उसे समाजवादी अर्थशास्त्र कहते हैं, जिसमें उत्पादन उपभोग के लिए होता है, और वितरण आवश्यकता के लिए होता है। आवश्यकता के आधार पर वितरण, उपभोग के आधार पर उत्पादन। यह समाजवाद है। यहाँ तक हमको मार्क्स पहुँचा गया।

कौटुम्बिक समाज

यह संस्था का भी नियम है। उपभोग के लिए उत्पादन और आवश्यकता के अनुसार वितरण। संस्था का नियम होगा कि वितरण बराबर-बराबर हो। मान लीजिये कि सौ केले हैं और संस्था में दस सदस्य हैं। तो हरएक को दस-दस बाँट दिये। सबको बराबर-बराबर मिल गया। किसीको ज्यादा नहीं, किसीको कम नहीं। इतने से काम नहीं चलता। कुछ लोगों का पेट चार केलों से भर जायगा। और कुछ लोगों को चौदह केलों की जरूरत होगी। जो लड़का चौदह केले खाता होगा उसको भी दस, और जो चार खाता होगा उसको भी दस! तो यह तो मकान भी नहीं, दूकान भी नहीं, जेलखाना हो गया! जेलखाने में हरएक को ६-६ रोटियाँ मिलती थीं। कम खाओ तो पेशी, ज्यादा माँगो तो पेशी। तो इस तरह का समाज, केवल संस्थाओं का समाज होता है। इसे 'कलेक्टिविज्म' कहते हैं। इस प्रकार तो समाज 'एक युनिवर्सल कलेक्टिव' (विश्व समुदाय संस्था) बन जायगा। यह हम नहीं बनने देना चाहते। इसके लिए क्या करेंगे? फ्रेटर्नल सोसाइटी बनायेंगे। फ्रेटर्नल सोसाइटी से मतलब है कौटुंबिक समाज। कौटुंबिक समाज में काम के दाम नहीं मिलते और आवश्यकता के मुताबिक उपभोग मिलता है। माँ ने तीन तरह की रोटियाँ बनायीं। कुछ बहुत खस्ता। पूछा कि इतनी खस्ता रोटियाँ किसके लिए बनीं? तो कहा, ये मेरे नौजवान बेटे हैं, इन्हें खस्ता रोटी चाहिए, करारी चाहिए। और ये नरम रोटियाँ किसके लिए बनी हैं? ये बगैर दाँतवाले बूढ़े दादा हैं, उनके लिए बनी हैं। और फिर ये छोटी-छोटी रोटियाँ किसके लिए बनी हैं? ये बच्चों के लिए बनी हैं। बच्चों को टुकड़ा क्यों नहीं दिया? टुकड़ा देने पर ये रोते हैं। छोटी रोटियाँ चाहिए। गोल चाहिए

और समूची चाहिए। इसलिए छोटी-छोटी रोटियाँ बनी हुई हैं। तो इसमें क्या हुआ ? उत्पादन तो हुआ मनुष्य के लिए, लेकिन वह और कौन-सा मनुष्य है ? वह, जिसे मैं जानता हूँ। बनानेवाला बरतनेवाले को जानता है, बरतनेवाला बनानेवाले को जानता है, दोनों एक-दूसरे को जानते-पहचानते हैं। गुमनाम कोई नहीं है। जहाँ बनानेवाला गुमनाम है, बरतनेवाला गुमनाम है, वहाँ दोनों को एक-दूसरे की फिकर नहीं। आपने जूता खरीदा, दूसरे दिन फेंक दिया। क्योंकि हजारों जूते बने हैं। क्या फिकर है ? टोपी खरीदने गये, आपके सिर में टोपी एक भी नहीं आयी। आपके नाप की टोपी नहीं है दूकान में। तो दूकानदार कहेगा, क्या करें ? ऐसा एकाध ही आदमी होता है, जिसके नाप की टोपी न हो। लेकिन जहाँ पर बनानेवाले से बरतनेवाले का सीधा सम्बन्ध हो, वहाँ दोनों कृतार्थ होते हैं। दोनों को एक-दूसरे के लिए आस्था है। माँ की बनायी हुई रोटी है। बनानेवाली खानेवाले को जानती है, खानेवाला बनानेवाली को जानता है। इन्हें उत्पादन के सम्बन्ध कहते हैं। ये सांस्कृतिक सम्बन्ध हैं।

समरसता की अनुभूति

समाजवाद यहाँ तक पहुँचा। हम एक कदम आगे जाते हैं। लड्डू बने हैं, दशहरे का दिन है। चारों भाई भोजन करने बैठे हैं। माँ ने कहा, चारों के लिए लड्डू बनाकर रख दिये हैं। तुम आराम से खा सकते हो। लेकिन एक रो रहा है। क्यों रो रहा है ? जितने दूसरों को दिये हैं, उतने तुम्हें भी दिये हैं। ज्यादा चाहिए तो ज्यादा मिल सकते हैं। नहीं। लेकिन छोटा भाई बीमार है। बीमार है तो कोई तेरा दोष नहीं है। वह बीमार है तो कोई क्या करे ? हाँ, लेकिन वह नहीं खाता है, तो लड्डू मेरे हलक के नीचे उतरता नहीं। यह गांधी था। दूसरों के दुर्भिक्ष के साथ उसकी समरसता है। सबको बराबर-बराबर मिलता है तो भी बगैर एक-दूसरे के साथ खाये आनन्द नहीं। सबको चार-चार लड्डू मिले हैं, लेकिन सब अपनी-अपनी जगह खा रहे हैं। कोई आनन्द नहीं।

सह-उपभोग का मूल्य सांस्कृतिक

मैं जब स्कूल में था, तो एक दफा सत्यनारायण की कथा में गया। प्रसाद में एक पेड़ा मिला। मैं होस्टल में रहता था। मेरा रूम-मेट मेरा बहुत दोस्त था। दोनों साथ बैठते-उठते थे, साथ खाते-पीते थे, साथ नहाते थे। तो सोचा, यह पेड़ा बिना उसके कैसे खाऊँगा ? उसके बिना तो उसमें रुचि ही नहीं। तो पेड़ा रूम में ले गया। अब वह हमेशा की तरह समझा कि मुझे दो मिले होंगे। एक उसके लिए लाया हूँ। उसने समूचा उठाया और मुँह में डाल

लिया। मैं बहुत खुश हुआ। उसने पूछा, 'मिले कितने थे ?' मैंने कहा, 'एक ही मिला था।' तो वह रोने लगा, 'तूने पहले क्यों नहीं कहा ?' मैंने कहा, 'पहले क्यों कहता ? सारा का सारा तू खा रहा है, इसमें मुझे मजा आ रहा है।' उसने कहा, 'तेरा पेड़ा मैं खा गया हूँ, इसलिए मैं रो रहा हूँ।' ये वितरण के सम्बन्ध हैं। वितरण आवश्यकता पर जितना निर्भर है, उतना ही मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों पर भी निर्भर है। वितरण में मनुष्य का आनन्द है एक-दूसरे के साथ उपभोग का। सह-उपभोग में जो आनन्द है, उसका मूल्य सांस्कृतिक है। हाउजर ने इसे 'फ्रेटर्नल सोसाइटी' कहा, लेकिन गांधी इसे 'फ्रेमलिस्टिक सोसाइटी' कहता। विनोबा 'फैमिलिस्टिक सोसाइटी' कहेंगे। सारे गाँव को परिवार बना दो—सारा गाँव बाजार नहीं, सारा गाँव परिवार। वितरण की बुनियाद इस तरह से बदलती रही है। वितरण पहले हुआ बिक्री की बुनियाद पर। उसके बाद हुआ, उपभोग की बुनियाद पर। उसके बाद हुआ मनुष्य की बुनियाद पर। और वह मनुष्य कौन ? मेरा पड़ोसी। गांधी ने स्वदेशी का अर्थ किया पड़ोसियत। यह गांधी के ग्रामोद्योग का अर्थ है। उसका हम जो अर्थ लगाते हैं, वह असली अर्थ नहीं है। ग्राम-संजावन का अर्थ है, उत्पादन पड़ोसी के लिए होगा। और यह पड़ोसी कहाँ है ? यह पड़ोसी मेरे गाँव में, मेरे साथ, मेरी बगल में है। और यह पड़ोसी दूर अमेरिका में भी है। जहाँ-जहाँ विपत्ति हो, जहाँ पर दुःख हो, जहाँ का मनुष्य मेरे साथ उपभोग करना चाहता है। इसलिए इधर ग्राम, और उधर जगत्। क्षितिज तक मेरा पड़ोस है। गांधी ने इसे ओसियानिक सर्किल नाम दिया है। ओसियानिक सर्किल, पानी में शक्कर डालने से जो वृत्त बनते हैं, एक के बाद एक, एक के बाद एक, उन सबका केन्द्र एक होता है। यह दूसरी चीज। तीसरी चीज, वह उत्पादन ऐसा होना चाहिए कि जहाँ तक हो सके, हरएक क्षेत्र में प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो। इसलिए नहीं कि सारे क्षेत्रों को अलग-अलग होना है। क्षेत्रवाद के कारण नहीं। इसमें एक-दूसरे को जानने-पहचानने की बात है। यह क्षेत्रवाद नहीं है। इसको समझ लेना इसलिए आवश्यक है कि आज हम 'ओवर स्पेशला-इजेशन' की तरफ जा रहे हैं। हर क्षेत्र में विशिष्ट उत्पादन होगा। कहीं लोहे का उत्पादन होगा, कहीं दूसरी तरह का उत्पादन होगा, कहीं कपड़े का होगा, कहीं बर्तनों का उत्पादन होगा। इस तरह से एक-एक क्षेत्र में एक-एक वस्तु का उत्पादन होगा, इसे 'स्पेशलाइजेशन' कहते हैं। मुझे इसमें बहुत बड़ा खतरा लगता है। भय इसलिए लगता है कि हमारी जातियाँ इसी तरह बनीं। एक समूह का और एक क्षेत्र का एक ही व्यवसाय, यही जाति है। एक क्षेत्र में

अगर एक ही चीज का उत्पादन होगा, तो पुराने लोग कहेंगे कि जमशेदपुर में लोहार रहते हैं और अहमदाबाद में जुलाहे। और इसमें आप उनको कोई दोष नहीं दे सकेंगे। हमारे यहाँ भी यही था। लोहारों के मुहल्ले थे, कुम्हारों का गाँव था। इसे 'फंक्शनलिज्म' कहते हैं। और मैं आपसे निवेदन यह करना चाहता हूँ कि 'फंक्शनलिज्म इज कलर ब्लाइंड टु ऑल कल्चरल वैलूज'—व्यवसायवादी समाज में सांस्कृतिक मूल्य नहीं पनपता। टैलेण्ट पनपता है, कारीगरी पनपेगी। अपने-अपने व्यवसाय में निपुणता पनपेगी, क्योंकि स्पेशलाइजेशन है।

विशेषज्ञता में समग्रता का अभाव

एक मास्टर ने एक दफा लड़कों से कहा कि चार आदमियों ने हाथी देखा। एक ने कहा कि खम्भे जैसा है, दूसरे ने कहा दीवार जैसा है, तीसरे ने कहा मूसल जैसा है, चौथे ने कहा सूपे जैसा है। मास्टर साहब ने पूछा, "तुम्हें पता है कि वे चार आदमी कौन थे ?" तो एक लड़के ने कहा, 'वे अन्धे थे।' दूसरा लड़का कुछ आधुनिक था, वह खड़ा हो गया और बोला—'अन्धे नहीं थे, वे स्पेशलिस्ट थे, विशेषज्ञ थे'। इसलिए उन्होंने समूचा हाथी कभी देखा ही नहीं। मुझ पर स्वयं ऐसी बात बीती है। मैं गया एक बड़े शहर में जाँच कराने—सभी तरह की जाँच हुई। दाँत की जाँच करा लो, यह करा लो, वह करा लो। बिलकुल तंग आ गया। आखिर डॉक्टर कहने लगा कि आँख की भी जाँच करा लो। तो मैंने उससे पूछा कि दोनों आँखों की जाँच एक ही डॉक्टर करेगा कि एक-एक आँख का डॉक्टर अलग-अलग तो नहीं होगा ?

इसमें क्या होता है ? जीवन की समग्रता का दर्शन नहीं होता। जीवन की समग्रता का दर्शन ही संस्कृति है। समग्रता के बाद विशेषज्ञता का विकास करें। लेकिन समग्रता बुनियाद है। उत्पादन में विशिष्टीकरण आ रहा है कच्चे माल के सबब से और ईंधन के सबब से। तो कुछ क्षेत्र 'रॉ-मॅटीरियल' में स्पेशलाइज कर लेते हैं, कुछ 'फिबेल' में, ईंधन में स्पेशलाइज कर लेते हैं। अब 'रॉ-मॅटीरियल' क्या है, 'फिबेल' क्या है ? लम्बी बात हो जाती है। इसको छोड़ दें। अर्थ-रचना में विशिष्टीकरण तो होगा, लेकिन स्पेशलाइजेशन के साथ-साथ समग्रता का भान होगा और मानवीय स्पर्श भी होगा। तब शिक्षण और संस्कृति उत्पादन से कदम मिला सकेगी। यह दूसरी चीज है।

ये दो चीजें हुईं। तीसरी चीज है उत्पादन के साधन। ये तीन प्रकार के हैं—प्राकृतिक, जीवन्त और उपकरण या औजार।

शाश्वत अर्थशास्त्र

एक तो प्राकृतिक साधन हैं, जिन्हें हम कैपिटल रिसोर्सेज कहते हैं। दूसरे मानवीय या अन्य प्राणियों की शक्ति के और तीसरे हैं औजार, उपकरण। इनके विषय में मनुष्य की अलग-अलग तरह की भावनाएँ रहीं, अलग-अलग तरह से इनकी तरफ से रुख भी रहा। विज्ञान के आविर्भाव के बाद मनुष्य को कुछ ऐसा अभिमान हुआ कि सारी सृष्टि का नायक मैं हूँ, सृष्टि का केन्द्र मैं हूँ। यह सारी सृष्टि और सारे प्राणी मेरे उपयोग के लिए और मेरे उपभोग के लिए बने हुए हैं। तो उसकी वृत्ति में 'कान्क्वेस्ट ऑफ नेचर' (प्रकृति पर विजय पाने) की भावना आयी। प्रकृति को अपनी दासी बनाना है, उसको जीतना है। अधिक-से-अधिक उसका एक्सप्लाइटेशन (शोषण) करना है। आसबोर्न नाम का एक लेखक है। उसने पुस्तक लिखी—'अवर प्लैंडर्ड प्लैनेट'। यह हमारी पृथ्वी जिसका द्रव्य हम लूट रहे हैं। उसमें यह भय प्रकट किया है कि एक दिन ऐसा आ सकता है कि जब सारी धरती की संपत्ति समाप्त हो जायगी। इस सम्पत्ति के कारण ही यह पृथ्वी वसुन्धरा, वसुमती कहलायी। 'वसु' का मतलब है 'धन'। इस पृथ्वी में धन है, इसलिए यह वसुन्धरा या वसुमती है। जो साम्राज्यवादी हैं, उन लोगों की दृष्टि यह होगी कि इतनी संपत्ति और इतने लोग हमारे कब्जे में रहें। लेकिन जो साम्राज्यवादी और साथ-साथ संपत्तिवादी भी हैं, उनकी दृष्टि कैपिटल रिसोर्सेज (नैसर्गिक संपत्ति) की तरफ रही। सवाल यह है कि उस संपत्ति का शोषण करना है कि उसका उपयोग करना है। ये दो चीजें अलग-अलग हैं। उपयोग में एक दृष्टि होती है—उपयोग भी चलेगा और संपत्ति बढ़ती भी जायगी। उपयोग के साथ संपत्ति कम नहीं होगी। दो तरह की आर्थिक योजना (इकॉनॉमी) है। एक का नाम है इकॉनॉमी ऑफ परमानन्स (शाश्वत अर्थशास्त्र), जिसमें पृथ्वी की संपत्ति उपयोग के बाद भी बढ़ती चली जाती है। फिर से उसको संपन्न करने की योजना भी उसीमें रहती है। यह जे० सी० कुमारप्पा का शाश्वत अर्थशास्त्र है।

सृष्टि के साथ सहयोग-दृष्टि

दूसरी दृष्टि है कवियों की। कुछ कवियों ने सृष्टि को माता माना, कुछ कवियों ने सखी माना, कुछ कवियों ने देवी माना। इसलिए हिमालय देवतात्मा हुआ। गंगानदी 'स्वर्गारोहण वैजयन्ती' बनी। यह कवियों की कल्पना है। चन्द्रमा कवियों को प्रिय हो गया। तो, इस नितान्त मनोहर सृष्टि में कवियों ने जो सौन्दर्य देखा, क्या विज्ञान उस सौन्दर्य-भावना को

नष्ट कर देगा ? कवि और वैज्ञानिक की भूमिका में क्या निरन्तर विरोध रहेगा ? यह नहीं रहना चाहिए, क्योंकि कवि के जो संकेत हैं, उनको आपने संस्कृति का नाम दिया और वैज्ञानिक की जो वैज्ञानिकता है, वह वस्तुनिष्ठा है। वस्तुनिष्ठा और हमारे संकेतों में इतना अन्तर रहेगा तो सांस्कृतिक संकेत ठहर नहीं पायेंगे। क्या वस्तुनिष्ठा और सौन्दर्यनिष्ठा का समन्वय असंभव है ? नोलोकावू एक आधुनिक साहित्यिक हैं। उनका एक वाक्य है, "देयर इज नो साइन्स विदाउट फैन्सी एण्ड नो आर्ट विदाउट फैक्ट्स"—"कल्पना के बिना कोई विज्ञान नहीं है, और वस्तुनिरपेक्ष कोई कला नहीं है।" शकुन्तला जब पति के घर जाने लगी तो आश्रम के पौधों से कण्व कहते हैं कि यह वह शकुन्तला है, जिसने तुम्हें पानी पिलाये विना कभी स्वयं पानी नहीं पीया। अपनी वेणी में फूल गूँथने का इसे बड़ा शौक है। फिर भी तुम्हारे लिए इतना स्नेह है कि इसने कभी तुम्हारा एक पत्ता भी नहीं तोड़ा। इसलिए कल या परसों मैंने एक वाक्य आप लोगों को सुनाया था। कवियों ने वर्णन किया है। कुमारसम्भव में देवदारु वृक्ष का वर्णन है। उसका वर्णन यह किया है कि भगवान् शंकर ने उसे अपना पुत्र माना था। आप सब लोग जो बगीचा रखते होंगे, उन सबको यह जो सृष्टि के साथ मनुष्य का सम्बन्ध है, उसका अनुभव है। मनुष्य का यह स्नेह-सम्बन्ध पेड़ों के साथ है, पत्थरों के साथ है, पानी के साथ है। यह जो मनुष्य का सृष्टि के साथ सम्बन्ध है, उसमें सृष्टि का सहयोग है, सृष्टि पर आक्रमण नहीं। सृष्टि पर विजय नहीं पाना है, सृष्टि का सहयोग प्राप्त करना है। परन्तु जब वस्तुओं की प्रचुरता की आकांक्षा प्रधान थी, उस वक्त उत्पादन के साधनों की खोज होने लगी।

यान्त्रिक क्रान्ति और वैज्ञानिक समाजवाद

नैसर्गिक संपत्ति की खोज में ईंधन की, तेल, कोयला आदि की खोज हुई। नये उपकरणों का आविष्कार हुआ। इसे औद्योगिक क्रान्ति कहते हैं। असल में वह यांत्रिक क्रान्ति थी। उस क्रान्ति ने यंत्र-युग का श्रीगणेश किया। इस यंत्र-युग के बाद ही मार्क्स ने परिस्थिति का विश्लेषण किया और वैज्ञानिक समाजवाद का आविर्भाव हुआ। इस वैज्ञानिक समाजवाद में तीन संकेत हैं, जिनको हम उसके उद्देश्य कह सकते हैं। राज्यमुक्त समाज, शस्त्रमुक्त समाज और वर्गमुक्त या शोषणमुक्त समाज—ये उसके तीन संकेत थे। इनके पीछे तीन वैज्ञानिक सिद्धान्त हैं। एक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, दूसरा ऐतिहासिक भौतिकवाद। ऐतिहासिक नियतिवाद इसीका एक उपप्रमेय है। निष्कर्ष है समाजवादी क्रान्ति की अनिवार्यता। इन तीनों सिद्धान्तों को उसने लागू किया, उस वक्त की परिस्थिति के लिए। उस वक्त पूँजी-

वाद की स्थापना हो चुकी थी। वैज्ञानिक समाजवाद, सामंतशाही के बाद, पूँजीवाद को अगला कदम मानता था। पूँजीवाद भी ऐतिहासिक अनिवार्यता का ही परिणाम है, क्योंकि वह अगला कदम है। उसमें से जो समाज-रचना आयी, वह अगला कदम थी। 'राष्ट्र' उसमें से आया। उससे पहले सामंतशाही में छोटी-छोटी जमींदारियाँ थीं, छोटे-छोटे राज्य थे। एक राजा और एक राष्ट्र की कल्पना पूँजीवाद के साथ आयी। और उसीके साथ यह लोकतंत्र भी आया।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त

लेकिन उस पूँजीवाद में एक अन्तर्विरोध था। मार्क्स ने उस अन्तर्-विरोध का जो विवेचन किया, उसमें से एक सिद्धान्त निष्पन्न हुआ। उस सिद्धान्त का नाम है 'अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त'। यह अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त क्या है? एक मजदूर की मजदूरी हम खरीदते हैं। अब मजदूरी का अपने में एक सामाजिक मूल्य है। परिश्रम का अपने में एक सामाजिक मूल्य है। उस परिश्रम से जो वस्तु बनती है, और उस परिश्रम से समाज का जो उपकार होता है, वह उसका सामाजिक मूल्य है। मगर बाजार की कीमत अलग चीज है। इस प्रकार परिश्रम अपने में मूलधन है, मौलिक संपत्ति है। इसे 'श्रम-मूल्य का सिद्धान्त' कहते हैं। पुराने अर्थशास्त्रियों में से रिकार्डो इसका प्रवर्तक है। आदम स्मिथ ने संपत्ति की परिभाषा कुछ दूसरी ही की है। "जिसके बदले में कुछ मिलता है, जिसका प्रतिमूल्य है, वह सम्पत्ति है।" रिकार्डो ने कहा कि मूल सम्पत्ति श्रम ही है। तो यह श्रम-मूल्य का सिद्धान्त कहलाता है। लेकिन श्रम का कुछ मूल्य अलग वस्तु है और कीमत अलग चीज है। आपने किसीसे ६ घंटे मजदूरी करा ली, श्रम करा लिया, परन्तु इसका जो सामाजिक मूल्य है, उतना तो आप उसको उसका प्रतिमूल्य देते ही नहीं हैं। ६ घंटे के सामाजिक परिश्रम का जो मूल्य है, वह उसको नहीं दिया जाता। आप उसको प्रतिमूल्य कितना देते हैं?—जितना उस समय की परिस्थिति में आवश्यक है, जितना अनिवार्य है। यानी उस परिश्रम की जितनी माँग है, उतना उसका मूल्य आप उसको देते हैं। तो आपने क्या किया? ६ घंटे के परिश्रम के लिए बाजार-भाव से आपने उसे जो मूल्य दिया, वह असल में दो घंटे का मूल्य आपने उसको दिया। इसमें फिर मुनाफा और मिला लीजिये। जिस कीमत में आपने मेहनत खरीदी, उससे अधिक दाम आपको बाजार में मिले। तो आपको दोहरा लाभ हुआ। यही अतिरिक्त मूल्य है। इसमें शोषण होता है। शोषण का स्वरूप क्या है? एक तो यह है कि दूसरे की कठिनाई में से आप लाभ उठाते हैं। दूसरे का संकट आपका अवसर बन जाता है। यह हुआ एक शोषण। दूसरा शोषण यह कि दूसरे के श्रम

में से आप अतिरिक्त मूल्य प्राप्त कर लेते हैं। इस शोषण में से अन्तर्विरोध पैदा हुआ। अमीरी ज्यों-ज्यों बढ़ेगी, अमीरों की संख्या कम होगी। सम्पत्ति जितनी केन्द्रीभूत होगी, उतने ही सम्पत्तिधारी व्यक्ति कम होंगे। करोड़पति वे होंगे, जो संख्या में बहुत कम होंगे। लखपति उनसे कुछ अधिक होंगे। हजारपति उनसे भी अधिक होंगे। सम्पत्ति के संग्रह का यह नतीजा है कि सम्पत्तिवानों की संख्या कम होती चली जाय। उधर मजदूरों की संख्या बढ़ती चली जायगी और उनकी गरीबी भी बढ़ती चली जायगी। इस अन्तर्विरोध में से पैदा हुआ वर्ग-संघर्ष। इस प्रकार अतिरिक्त मूल्य में से पूँजीवाद का अंतर्विरोध पैदा हुआ और उसमें से वर्ग-विग्रह या वर्ग-संघर्ष। ये सारे यंत्रीकरण के परिणाम हैं। इसलिए मैंने साधनों के विचार के सिलसिले में ये चीजें रखीं।

यंत्र-युग में नये औजारों का आविष्कार हुआ। नये औजारों का क्या नतीजा होगा ? काम अधिक होगा और मनुष्य कम लगेंगे। मनुष्य कम लगेंगे तो मनुष्य बेकार होते चले जायेंगे। जो बेकार होते चले जायेंगे, वे गरीब होते चले जायेंगे। जो गरीब होते चले जायेंगे, वे चीजें खरीद नहीं सकेंगे। उनमें क्रय-शक्ति नहीं रहेगी। और जब क्रय-शक्ति नहीं रहेगी, तो चीजें समाज में बिकेंगी नहीं। उत्पादन बढ़ेगा, विक्रय होगा नहीं। यह अन्तर्विरोध है। इसलिए यंत्र-युग के साथ नकशा बदल गया। जमाना बदल गया। इस विषय पर अभी-अभी कुछ पुस्तकें निकली हैं। दो लेखकों ने एक ही नाम की दो पुस्तकें लिखी हैं, 'द फेल्युअर ऑफ टेक्नॉलॉजी'। लेकिन इधर इसी साल या पारसाल एक पुस्तक लुई ममफर्ड की निकली है, 'द मिथ ऑफ द मशीन'।

पारस्परिकता का विकास

इन लेखकों का यह कहना है कि जिस तरह का आज का हमारा आर्थिक ढाँचा है, उसमें आमूलाग्र परिवर्तन की आवश्यकता है। उपकरणों के परिवर्तन का विचार आज ये लोग कर रहे हैं—विज्ञान के युग में। हमें केन्द्रीकरण, विकेन्द्रीकरण आदि शब्दों के फेर में नहीं पड़ना है। इसमें केन्द्रीकरण, विकेन्द्रीकरण शब्द कुछ नारों जैसे हो गये हैं। 'विकेन्द्रीकरण' कहा तो गांधीवाला हो गया, 'केन्द्रीकरण' कहा तो और कोई हो गया। लेकिन इस देश में जितने समाजवादी हैं, वे सारे के सारे विकेन्द्रीकरण के पक्षपाती हैं। कम्युनिस्टों में भी अधिकतर लोग इस देश में विकेन्द्रीकरण के पक्षपाती हैं। कारण यह है कि हमारे देश में मनुष्य-शक्ति बेकार पड़ी है। जहाँ मनुष्य-शक्ति बेकार न हो, वहाँ यंत्रीकरण से मनुष्यों की फुरसत बढ़ सकती है। वहाँ फुरसत की एक नयी

समस्या पैदा होगी। उसका विचार लोग कर लेंगे। मैंने कहा था कि मनुष्यों के सामाजिक और पारस्परिक सम्बधों में उनकी फुरसत का प्रतिविम्ब होता है। लेकिन यहाँ हम फुरसत के प्रश्न का विचार नहीं करेंगे। वह एक अलग विषय है। यहाँ हमको सिर्फ यह देखना है कि उपकरण किस प्रकार के हैं। इस सम्बन्ध में हम बिलकुल ऊपर-ऊपर का विचार करते हैं, तह तक नहीं जाते। सिर्फ सोचते हैं कि यंत्र हों या न हों। यह 'ओवर सिम्प्लीफिकेशन' है। एक गंभीर विषय को छिछला बना देना है। यंत्रों का प्रयोग हो या न हो ? हम यंत्र के पक्ष में रहें या विरोध में ? यह कोई विचार नहीं है। यंत्र अपने में जड़ है। शस्त्र के विषय में मैंने कहा था कि शस्त्र तटस्थ नहीं हैं। लेकिन यंत्र तटस्थ हैं। प्रत्येक यंत्र के साथ भी उसके कुछ सहकारी भाव होते हैं, उसके कुछ फलितार्थ होते हैं। फिर भी यंत्र का विरोध और यंत्र का समर्थन अपने में कोई अर्थ नहीं रखता। यंत्र का उपयोग मनुष्य के लिए होना चाहिए। मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास करने के लिए उसका उपयोग हो। मनुष्य के लिए जीवनोपयोगी चीजें प्रस्तुत करने के लिए उसका उपयोग हो और मनुष्यों के जीवन में पारस्परिकता का विकास करने के लिए उसका उपयोग हो। नहीं तो उपकरण मनुष्य से ज्यादा प्रतिष्ठित हो जाता है और मनुष्य स्वयं एक गौण उपकरण बन जाता है। उपकरण मनुष्य के हाथ में हो, उपकरण के अधीन मनुष्य न हो। सितार उँगलियों की शक्ति को बढ़ाती है। लेकिन सिफत उँगलियों की है। सिफत अगर सिर्फ सितार में होती, तो रविशंकर का सितार मैं भी बजा सकता। यंत्र जितना कुशल होगा, मनुष्य उतना ही अकुशल होता चला जायगा। यंत्र-निर्भरता बढ़ेगी, और मनुष्य की अपनी शक्ति कम होती चली जायगी। रविशंकर के सितार में अगर जादू होता तो मैं सितार उठा लेता और मेरी उँगलियाँ उस पर चलने लगतीं, ठीक उसी तरह से। फिर सीखने की कोई आवश्यकता नहीं होती। अगर यंत्रों से अपने-आप काम होने लगे, तो मनुष्य खुश होता है। लेकिन उन्हीं चीजों में खुश होता है, जिनमें उसे दिलचस्पी नहीं है। जिन कामों में दिलचस्पी नहीं है, वे सारे काम मनुष्य यंत्रों से करा लेना चाहता है। लेकिन जिनमें दिलचस्पी है, उन सारे कामों को यंत्रों से नहीं कराना चाहिए। आप थोड़ी देर के लिए ऐसी कल्पना कीजिए कि फुटबॉल खेलने के लिए भी यंत्र बन गया। अपने-आप गेंद खेली जा रही है। लड़कों को उसमें मजा नहीं आयेगा। वे कहेंगे कि यह क्या हुआ ? दूसरा एक यंत्र निकला है कि अन्न अपने-आप चबाया जाता है और अपने-आप हजम होता जाता है। तो फिर आपको पकौड़ी-पापड़ आदि का मजा नहीं आयगा।

मनुष्य यह नहीं चाहता है। इसे 'वाइकेरियस लिविंग' कहते हैं। 'वाइकेरियस लिविंग' का मतलब है दूसरे की मार्फत जीना। आज मनुष्य का आधे से अधिक जीवन 'वाइकेरियस' हो गया है। अर्थात् वह यंत्रों की या दूसरों की मार्फत जीता है। जैसे ब्राह्मण के द्वारा पहले धर्म-कर्म होता था। एक रुद्राभिषेक विश्वनाथजी को कराना है, तो ब्राह्मण को ११ रु० दे दिये। तू अभिषेक कर। मैं पुण्य का भागी हूँ। आज जितना मनोरंजन है, वाइकेरियस है। नाटक और सिनेमा में हरिश्चन्द्र और तारामती त्याग कर रही हैं, तपस्या कर रही हैं, हम सिर्फ बैठे-बैठे उनको देखकर रो रहे हैं। आज सारा का सारा हमारा जीवन वाइकेरियस ही रहा है। डाइरेक्ट नहीं है, प्रत्यक्ष जीवन नहीं है। और जो जीवन प्रत्यक्ष नहीं होता, वह निःसत्त्व होता है। उसमें जीवन का सत्त्व नहीं रहता। यूरोप में आज शिकायत यही है कि उनके जीवन में सत्त्व नहीं रह गया है। प्रत्यक्ष जीवन नहीं है। सारा का सारा ढाँचा ऐसा बन गया है कि बनी-बनायी चीजें मिलती हैं। कपड़े बने-बनाये मनुष्य चाहेगा, अन्न बना-बनाया मनुष्य चाहेगा, आनन्द आयेगा। लेकिन जीवन बना-बनाया मनुष्य नहीं चाहता। पश्चिम का मनुष्य कह रहा है कि प्रिमिटिव्ह (आदिम) मानव अच्छा था। जीवन का साक्षात् अनुभव उसे होता था। आज हमें जीवन का परोक्ष अनुभव है। परोक्ष जीवन निःसत्त्व जीवन है।

उत्पादक-श्रम की प्रतिष्ठा बढ़े

आज उत्पादक-परिश्रम में रुचि नहीं है। उत्पादन दूसरों से या यंत्रों से कराना चाहते हैं। इसका एक कारण तो यह है कि उत्पादक-परिश्रम की प्रतिष्ठा नहीं है। और दूसरा कारण यह है कि सारा का सारा परिश्रम दूसरे के लिए होता है। जो काम अपने लिए नहीं होता, उसमें दिलचस्पी नहीं होती। ब्राह्मण आपके घर पूजा करने आता है, ५ मिनट में पूजा करके चला जाता है। क्योंकि पूजा आपके लिए कर रहा है, अपने लिए नहीं। वही ब्राह्मण अपने घर जाता है, तो दो घंटे पूजा करता है। क्योंकि उसमें स्वयं उसे पुण्य लेना है। और इसमें केवल दक्षिणा। तो केवल दक्षिणा के लिए जो पूजा करेगा, वह कम-से-कम पूजा के लिए अधिक-से-अधिक दक्षिणा चाहेगा। जो काम दूसरे के लिए होता है, उसका नाम बेगार है—चाहे पैसे मिलते हों या न मिलते हों। जो काम बेगार का होता है उसमें न श्रम का विकास होता है, न कला का विकास होता है और न व्यक्ति का विकास होता है। इसलिए उसका नाम रखा गया है 'ड्रजरी', निरी मशक्कत। ऐसी कोरी मशक्कत में से कुशलता का

विकास नहीं होता। इसलिए संयोजन में अकुशल परिश्रम की मात्रा अधिक नहीं होनी चाहिए। मनुष्य की श्रम-शक्ति के संरक्षण के लिए कुछ अकुशल परिश्रम अनिवार्य है। उतने में उसे रुचि भी होगी। परन्तु केवल अकुशल परिश्रम करने के लिए किसीको बाध्य नहीं करना चाहिए। उपकरणों के संयोजन में यह सारा विचार होना जरूरी है।

काम और आराम का सामंजस्य

संयोजन में काम और आराम का सामंजस्य होना चाहिए। इसी दृष्टि से उत्पादन के औजारों का सुधार हो। लेकिन एक शर्त है। वह शर्त तो पहली शर्त है। उसमें कोई समझौता नहीं। कौन-सी शर्त ? हमको विपुलता प्रस्तुत करनी है। आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए। आवश्यकताओं की आपूर्ति के लिए जितनी चीजें लगेंगी, जो सामग्री चाहिए, वह तो प्रस्तुत होनी ही चाहिए। उसके लिए सबको मेहनत करनी पड़े, तो सबको करनी चाहिए। जैसे विनोबा कहते हैं—'सब' से मतलब है प्रधानमंत्री से लेकर भंगी तक। जो आवश्यक परिश्रम है वह आवश्यक परिश्रम, अनिवार्य परिश्रम, सबको करना होगा। उसमें से किसीका छुटकारा नहीं। या फिर वह यंत्र से करा दीजिये, तो भी हर्ज नहीं। लेकिन, मनुष्य को शारीरिक स्वास्थ्य के लिए परिश्रम की आवश्यकता है। उसका शरीर श्रम के बिना चंगा रह नहीं सकता। अब श्रम के बिना रह नहीं सकता तो क्या वह व्यर्थ श्रम ही करे ? क्योंकि व्यर्थ श्रम की प्रतिष्ठा है और उपयोगी श्रम की प्रतिष्ठा नहीं है ! व्यर्थ या अनुपयोगी परिश्रम सांस्कृतिक मूल्य नहीं है। सांस्कृतिक मूल्य वह मूल्य है, जिसमें उपयोगिता की भी प्रतिष्ठा होगी। उपयोगिता से मेरा मतलब स्वार्थ नहीं है, पैसा नहीं है। उपयोगिता से मेरा मतलब है अपने पड़ोसी के जीवन में सहायक होना। इस प्रकार के परिश्रम का सामाजिक मूल्य है। इसलिए उत्पादन के उपकरणों की पहली शर्त यह है कि उत्पादन में मनुष्य की शक्ति, मनुष्य की कला और मनुष्य के गुणों का सम्पूर्ण विनियोग होना चाहिए। तब उत्पादन में से इनका विकास होगा। मनुष्य के बाद आता है पशु। पशु के विषय में हमारे देश की एक मर्यादा है। मर्यादा हमने यह मान ली है कि गाय को हम नहीं मारेंगे। अब यह मर्यादा एक सांस्कृतिक मर्यादा है। हिन्दुओं ने इसको साम्प्रदायिक मर्यादा अब तक माना है। इसीलिए यह मर्यादा सार्वत्रिक नहीं हो सकी। जिस दिन इसको हम साम्प्रदायिक मर्यादा नहीं मानेंगे, उसी दिन से समाज-जीवन में गाय की कद्र होगी। साम्प्रदायिक मर्यादा न मानने का एक लक्षण है—मनुष्य को गाय से श्रेष्ठ

मानेंगे। आज हम मनुष्य को गाय से गौण मानते हैं, मगर व्यवहार में गाय को सूअर से भी बदतर मानते हैं। व्यवहार में तो शायद उसे जानदार भी नहीं मानते। वस्तुतः तो मनुष्य को भी सजीव नहीं मानते हैं। अभी हम लोग आ रहे थे तो एक रिक्शे में ६ आदमी चढ़े हुए थे। वे सारे के सारे गरीब होंगे, और उस गरीब को मार रहे थे, जो रिक्शा चला रहा था। इस प्रकार मनुष्य की प्रतिष्ठा शून्य हो गयी है। लेकिन मान्यता यह है कि गाय मनुष्य से भी श्रेष्ठ है। गाय को अगर अवध्य माना है, तो वह समस्त जीवन की प्रतिष्ठा के प्रतीक के रूप में। मनुष्येतर प्राणियों की प्रतिष्ठा का प्रतीक अगर गाय है, तो फिर सूअर की भी प्रतिष्ठा रहेगी। बकरी को भी प्रतिष्ठा रहेगी। उन्हें खाना एक बिलकुल अलग चीज है। शायद सारे के सारे पश्चिम के लोग मांस खाते होंगे। लेकिन उनके जीवन में पशुओं के लिए कितनी दया भरी हुई है! छुटपन में हमको एक सबक सिखाते थे। एक घोड़ा-गाड़ीवाला अपने घोड़े पर बहुत बोझ लादकर ले जा रहा था। तो उस गाँव के मेयर ने उसकी गाड़ी रोकी, और उससे कहा कि तुझे जेल में भेजना चाहिए। यहाँ तो एक बैल, गाय, का कोई बेहद शोषण करता है, तो उसको जेल में तो भेजा ही नहीं जायगा कभी। और उल्टे शायद वह समझता होगा कि मैं गाय को तो कभी मारता नहीं हूँ, इसलिए स्वर्ग में जाऊँगा।

मनुष्य-शक्ति का उपयोग

तो मैं कह यह रहा था कि पशु-शक्ति का, और पशु की कला का भी उत्पादन में विनियोग होना चाहिए। पशु में भी कला होती है। आपने पुराने जमाने में बिहार में ऐसे घोड़े देखे होंगे, जो नाचते थे। नाचनेवाले घोड़े तो केवल सर्कस में ही नहीं थे, सर्कस के बाहर भी थे। तो पशु में भी एक कला होती है और उसमें एक मैत्री होती है, सख्य की भावना होती है। घोड़ा, कुत्ता, बैल, सारे पशु मैत्री करना जानते हैं। पशु का मनुष्य के जीवन में उसके साथी के नाते दाखिल होना संस्कृति का बहुत बड़ा कदम है। क्योंकि इसमें जीवन व्यापक होता है। जीवन जितना व्यापक होता है, उसकी परिधि, उसका दायरा जितना बढ़ता है, उतना ही संस्कृति का विकास होता है। आज हम उल्टा कर रहे हैं। संस्कृति के संकोच में उसका विकास हम मान रहे हैं। यह संथालों की संस्कृति है, यह नागाओं की संस्कृति है, यह मिथिलों की संस्कृति है, यह महाराष्ट्रियों की संस्कृति है। अन्त में यह मेरी संस्कृति है, यह तेरी संस्कृति है—इतना ही रह जायगा। और फिर संस्कृति के नाम से क्या बाकी रह जायगा? १२ कोस पर

तो आज भी भाषा बदलती है। कल बारह-बारह मील पर बदलने लगेगी। अन्त में एक-एक घर के साथ बदलने लगेगी। हमारा मुँह आज इस तरफ को है। होना चाहिए क्षितिज की तरफ। क्षितिज की तरफ को बढ़ना चाहिए।

तो मनुष्य ने एक कदम बढ़ाया इस देश में। कहा, 'गाय को हम नहीं मारेंगे'। एक संकेत है। पशु-शक्ति का उपयोग होना चाहिए। जो पशु उपयोगी नहीं होगा उसे विधाता भी नहीं बचा सकेगा। मनुष्य-शक्ति के उपयोग का अर्थ है—मनुष्य का परिश्रम, मनुष्य की कला, मनुष्य का गुण—इन तीनों का उपयोग। पशु-शक्ति का उपयोग—पशु का श्रम, पशु की कला और पशु का गुण। इन तीनों का विनियोग होना चाहिए। मनुष्य के सहवास से कम-से-कम पशुओं की शक्तियों का तो विकास हो। मनुष्य ने बेचारे पशु को कैद किया, बन्दी बनाया। अब इतना तो करे कि उसमें कुछ गुणों का विकास हो, कुछ कला का विकास हो।

नैसर्गिक शक्ति का उपयोग

तीसरी चीज है नैसर्गिक शक्ति। जमीन, खदानें, बिजली, ऐटमिकशक्ति, सूर्य की शक्ति। अणु-शक्ति, सूर्य की शक्ति, ये सब नैसर्गिक शक्तियाँ हैं। इनके विनियोग की बात आती है। इनका विनियोग इस प्रकार होना चाहिए कि ये धीरे-धीरे क्षीण न होती चली जायँ। ये शक्तियाँ सारी की सारी बनी रह जायँ, जहाँ तक हो सके, आगे आनेवाले मनुष्य के लिए। कहीं ऐसा न हो कि सारी-की-सारी इस पृथ्वी की विरासत अपनी पीढ़ियाँ ही समाप्त कर दें। कुछ लोगों का खयाल है कि पृथ्वी में जो तेल है, और जो कोयला शेष है, यह तेल और कोयला, कुछ पाँच-छह सौ वर्षों में समाप्त हो सकता है। यह तो दस साल पहले का हिसाब है। आज के हिसाब से तो और कम वर्ष लगेंगे। क्योंकि अब बहुत वेग से इनका उपयोग हो रहा है। इसके बाद बिजली का आविष्कार है, अणु-शक्ति का आविष्कार है, सूरज की किरणों की शक्ति का आविष्कार है। ये निसर्ग की शक्तियाँ हैं। खदानों में से जो चीजें निकलती हैं, उनका उपयोग सामंजस्यपूर्ण होना चाहिए, विवेकपूर्वक होना चाहिए।

गाँव कैसा होगा ?

उत्पादन के साधनों में इसके बाद क्रम आता है यंत्र का। यंत्र का प्रयोग कैसे हो ? प्रचुरता के लिए यंत्रों का जितना उपयोग है, उतना तो करना ही पड़ेगा। केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण की योजना का सम्बन्ध इस प्रश्न के साथ है कि हम किस प्रकार का समाज चाहते हैं। जैसा समाज हमको चाहिए, उसके दो लक्षण माने हैं हमने। कौनसे ? उत्पादक और उपभोक्ता दोनों एक-दूसरे को जानें।

उत्पादक उपभोक्ता के लिए उत्पादन करेगा, और उपभोक्ता वस्तु की कद्र करेगा, इसलिए कि वह उत्पादक उसको जानता है। यह जूता गांधी का बनाया हुआ है तो जनरल स्मट्स उस जूते की कद्र करता है। इस तरह से एक मनुष्य जब दूसरे मनुष्य के लिए वस्तु बनाता है तो अनायास उनमें कौटुम्बिकता आ जाती है। तो, इस कौटुम्बिकता को लाने के लिए समाज कैसा होगा? इतना छोटा कि जिसमें मनुष्य एक-दूसरे को जाने। और इतना बड़ा कि मुख्य आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाय। आज का गाँव गाँव नहीं है। गाँव तो जीर्ण मतवाद का, दकियानूसी विचारों का डबरा है। यह गन्दगी का घूरा है। यहाँ आलस्य और दरिद्रता का अक्षुण्ण साम्राज्य है। तो आज का गाँव तो गाँव है नहीं। आज का शहर भी मानवोचित उपनिवेश नहीं है। हम जिस ग्राम की बात करते हैं वह कैसा होगा? उसमें स्वच्छता भी होगी और निकटता भी होगी। पड़ोस भी होगा और पड़ोस के साथ-साथ स्वतंत्रता भी होगी। इस प्रकार की गाँव-रचना आपको करनी होगी। अब इसमें जिस प्रकार के यंत्रों का उपयोग हो सकेगा, जिस प्रकार की टेकनालॉजी उपयुक्त होगी, इसका विचार करना होगा। एक कारखाने के आसपास गाँव या शहर, यह आज का नक्शा है। जैसे मन्दिरों के चारों तरफ पुण्य नगर और महलों के चारों तरफ राजधानी, यह पुराना नक्शा था। कारखाने के चारों तरफ एक शहर, आज का नक्शा है। हम मनुष्य को केन्द्र में रखना चाहते हैं। उसके इर्दगिर्द सारी चीजें। मनुष्य को सोहबत भी चाहिए और स्वतंत्रता भी चाहिए। ये दोनों चीजें आपके उपनिवेश में मिलनी चाहिए। इसी हिसाब से यंत्रों का विनियोग होना चाहिए।

औजार के प्रति आत्मीयता

अन्त में एक चीज और इस विषय में रह जाती है, जिसका उल्लेख कर देना मैं आवश्यक समझता हूँ। वह चीज यह है कि क्या यंत्र के साथ मनुष्य का कोई सम्बन्ध होगा? यंत्र के साथ मनुष्य का सम्बन्ध अपने में एक स्वतंत्र चीज है। मैंने रविशंकर के सितार का उल्लेख किया। यह उत्पादक-परिश्रम का उपकरण नहीं है। आपकी फाउन्टेनपेन है या किसी मिस्त्री के औजार। मिस्त्री को तो जाने ही दीजिये, लकड़हारे से आप कहिए कि तेरी कुल्हाड़ी मुझे चाहिए, कहेगा तुम बिगाड़ दोगे। रद्दी-से-रद्दी अक्षर लिखनेवाले से कहिए कि आज तुम्हारी फाउन्टेनपेन जरा मुझे दो, तो कहेगा कि तुम बिगाड़ दोगे। मैंने आपसे कहा था कि मनुष्य के अवयवों की शक्ति बढ़ाने के लिए औजार है। इसलिए इन औजारों का मनुष्य के शरीर के साथ अवयव-अवयवी सम्बन्ध होना चाहिए। मेरी उँगलियों के साथ मेरी कलम का सम्बन्ध है। मेरी उँगलियों के साथ मेरी कुल्हाड़ी का सम्बन्ध है। पहले जब उत्पादन हाथों से होता था, औजार के साथ मनुष्य का

सम्बन्ध अपने-आप हो जाता था। वह यहाँ तक हो जाता था कि हमारे देश में तो औजारों की पूजा भी होती थी। औजार उठाने से पहले हाथ जोड़ लेते थे। आज भी कई मोटर ड्राइवर भी ऐसे हैं कि जो पहले हाथ जोड़ लेते हैं मोटर भवानी को। इंजन ड्राइवर भी ऐसे हैं कि जो अपने इंजन को 'इट' कभी नहीं कहेंगे, 'शी' कहेंगे। क्योंकि उसका अपने साधन के साथ रिश्ता कायम हो गया है। शुरू-शुरू में जब यंत्र आया उसका नाम 'आयरन हार्स' ही रखा। यह लोहे का घोड़ा है। घोड़े के विषय में जो भावनाएँ थीं वे भावनाएँ मन में पैदा हों, इस दृष्टि से उसको 'आयरन हार्स' कहा।

औजार के विषय में एक प्रकार की आत्मीयता जब मनुष्य के मन में होती है, तो उत्पादन में से एक अद्‌भुत सांस्कृतिक मूल्य उत्पन्न होता है। हम अक्सर सुनते हैं कि हड़ताल से उद्देश्य सफल न हो तो मजदूर औजारों की तोड़-फोड़ करते हैं, परन्तु औजारों के साथ जिस दिन मनुष्य का अपनेपन का सम्बन्ध हो जायगा तो वह औजारों को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहेगा। उस उत्पादन में वस्तु की तरह औजार की भी प्रतिष्ठा रहेगी। उस समाज में उत्पादक और श्रमिक सभी होंगे। अनुत्पादक और केवल अवकाशभोगी कोई नहीं रहेगा। वह उत्पादकों का समाज होगा। जो उत्पादक होंगे वे उपभोक्ता भी होंगे, जो उपभोक्ता होंगे वे उत्पादक भी होंगे। इस तरह का यह समाज बनेगा। इसलिए इस समाज में औजारों के लिए भी प्रतिष्ठा होगी, मनुष्य के हाथ औजारों का आत्मीयता का सम्बन्ध होगा। ये उत्पादक और ये अनुत्पादक ऐसे अलग-अलग दो वर्ग नहीं रहेंगे।

मेहनत इन्सान की, दौलत भगवान् की

तब स्वामित्व का नकशा क्या रहेगा ? अब यह प्रश्न है। मार्क्स ने श्रमिकों की अधिनायक सत्ता का प्रतिपादन किया है। उसमें राज्य और समाज एक [illegible] जाता है। पार्टी और राज्य एक, पार्टी और समाज एक। इस तरह समाज-[illegible]मित्व के नाम पर राज्य-स्वामित्व हो जाता है। तानाशाही समाज में राज्य-[illegible]मित्व ही लोक-स्वामित्व माना जाता है। इसमें से लोकतांत्रिक समाजों ने एक रास्ता निकाला। राज्य-स्वामित्व नहीं होगा, लोक-स्वामित्व होगा। लोक-स्वामित्व किस तरह होगा ? स्वायत्त संस्थाओं का, व्हालेंटरी असोसिएशन्स का, कारपोरेशनों का। इसे 'प्लूरलिस्टिक सोसाइटी' कहते हैं। कई पार्लियामेण्ट होंगी। एक पार्लियामेण्ट एक ही फंक्शन के लिए होगी। अलग-अलग संस्थाएँ होंगी। इस स्वामित्व का ढाँचा कैसा होगा ? इसमें से भिन्न-भिन्न देशों में अलग-अलग तरह के समाजवाद के रूपों की कल्पनाएँ हुईं। फ्रांस में सिंडिकलिज्म आया। इंग्लैंड में

गिल्ड सोशियालिज्म आया। ये संस्थाएँ भिन्न-भिन्न उद्योगों में लगे हुए श्रमिकों और कारीगरों की थीं। लेकिन उनका स्वरूप हमारी जातियों से बिलकुल अलग तरह का था। इसी खोज में से कार्पोरेशनवाद और सहकारितावाद भी आया। ये सब कलेक्टिव्हिज्म (समष्टिवाद) को प्रतियोगी योजनाएँ हैं। साम्यवाद के अन्तर्गत समष्टिवाद और राज्यवाद आते हैं—कम्युनिज्म, कलेक्टिव्हिज्म, स्टेटिज्म। उनमें से केन्द्रीकरणवाद आता है। उस केन्द्रीकरणवाद में से 'वेलफेयरिज्म' या कल्याणकारी राज्यवाद एक दूसरा रास्ता आया। वेलफेयरस्टेटिज्म में भी राज्यवाद है ही। उस व्यवस्था में भी इकाई तो संस्था ही होगी, व्यक्ति नहीं। सारांश, स्वायत्त संस्थाओं का सहकारितावाद आया और फिर आया वेलफेयरिज्म। सवाल यह है कि राज्य-स्वामित्व की तरह संस्थाओं का स्वामित्व भी लोक-स्वामित्व नहीं है। हम चाहते हैं लोक-स्वामित्व। राज्य-स्वामित्व भी नहीं, संस्थाओं का स्वामित्व भी नहीं। क्योंकि संस्थाओं के स्वामित्व की इस रचना में से व्यावसायिक समाजवाद सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति अंधा होता है। व्यवसायात्मक समाज बनेगा। तब हम किस प्रकार की मालकियत चाहते हैं? इसमें गांधी ने सोचा कि जो छोटे-छोटे क्षेत्र बनेंगे, जिनको हमने कौटुम्बिक क्षेत्र कहा, ग्राम-स्वराज्य के क्षेत्र कहा, इन ग्राम-स्वराज्य के क्षेत्रों में जो जन-शक्ति होगी, उस जन-शक्ति की प्रातिनिधिक संस्था का स्वामित्व होगा। लेकिन ग्राम-स्वामित्व से यह मतलब नहीं कि एक गाँव की मालकियत हो गयी तो एक गाँव की जमींदारी हो गयी। इसका तो अर्थ यह होगा कि व्यक्तिगत जमींदारी की जगह सामुदायिक जमींदारी आ गयी। फिर हमारे गाँव में ज्यादा चावल हुआ तो अमेरिका की तरह हम समुद्र में बहा देंगे, लेकिन तुमको नहीं देंगे। यह गाँव कह सकता है। या देंगे तो फिर दुगुने दाम में देंगे, चौगुने दाम में देंगे। तो लोक-स्वामित्व का असली अर्थ यह है कि स्वामित्व कहीं है ही नहीं। मनुष्य अधिकारी केवल उपयोग का है। स्वामित्व किसका है?—'सबै भूमि गोपाल की', की तरह हम कहेंगे कि मेहनत इन्सान की, दौलत भगवान् की और भगवान् से मतलब है मनुष्यमात्र। इसमें क्षुद्र क्षेत्रवाद नहीं आयेगा। आज की दुनिया में, विज्ञान के युग में, अगर मनुष्य दुःखी है, दीन है, दरिद्र है तो उसका कारण यह है कि जीवनोपयोगी चीजों का बँटवारा ठीक-ठीक नहीं हो सका। आस्ट्रेलिया में अगर जमीन ज्यादा है और आदमी कम हैं तो क्या वजह है कि वहाँ लोग जाकर नहीं रह सकेंगे?

वसुधैव कुटुम्बकम्

अमेरिका और रूस में अगर खानेवाले कम हैं और अन्न अधिक है तो क्या वजह है कि दूसरों को अन्न खरीदना पड़े या दान में माँगना पड़े। अगर उत्पादन होता है तो उसका उचित वितरण होना ही चाहिए। और वितरण की कोई शर्त नहीं, आवश्यकता के सिवाय। आवश्यकता ही वितरण की योग्यता है, पात्रता है। इस तरह का संविभाजन सारे संसार में होना चाहिए। गाँव उसका एक छोटा-सा प्रतिरूप होगा। यह अन्तर्राष्ट्रीयतावाद से भी आगे की स्थिति होगी। मार्क्सवादियों की तीन प्रतिज्ञाएँ थीं न? राज्य-संस्था विलीन हो जायेगी तो जागतिक राज्य होगा। राज्य रहेगा ही नहीं। जागतिक समाज बनेगा। उस समाज में क्या होगा? प्रशासन मनुष्यों का नहीं, वस्तुओं का नियंत्रण होगा। मनुष्य का नियंत्रण नहीं होगा, वस्तुओं की व्यवस्था होगी। यह जो वस्तुओं की व्यवस्था है, उसका अर्थ ही यह है कि जितनी आपकी आवश्यकता है, उतनी आपकी वस्तु। आपकी आवश्यकता से अधिक जितनी चीज है उस पर आपका कोई अधिकार नहीं। बल्कि आवश्यकता के लिए जितनी चीजें आपको चाहिए, उतने पर भी आपका अधिकार तब तक नहीं है, जब तक दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं। आज विज्ञान के युग में यह अलिखित संकेत-सा हो गया है। यहाँ अकाल हो, तो अमेरिका अन्न भेजता है। यहाँ बाढ़ हो, वहाँ से मदद आती है। कहीं भूकम्प हो, दुनिया के दूसरे कोने से लोग सहायता के लिए आते हैं या सहायता भेजते हैं। इस अलिखित संकेत को हमें अपने जीवन में चरितार्थ करना है। ग्राम-स्वामित्व का अर्थ है मानवमात्र की मालकियत किसी एक क्षेत्र या समुदाय की नहीं। हमारा गाँव विश्व-कुटुम्ब का सगुण रूप होगा—**वसुधैव कुटुम्बकम्** होगा।

राँची-शिविर

१५,१६-१०-'८

: ८ :

लोकतन्त्र का भविष्य

आज हमें राजनैतिक संयोजन का विचार करना है। मैंने आप लोगों से एक दिन निवेदन किया था कि प्राचीन भारतवर्ष में एक तरह की अखिल भारतीयता की भावना थी, जिसके दो लक्षण बताये थे—सारा भारतवर्ष एक है, सारा भारतवर्ष पवित्र है। परन्तु आज हम जिसे राष्ट्रीयता की भावना कहते हैं, वैसी भावना अंग्रेजों के आने से पहले इस देश में कभी नहीं थी। अंग्रेजों के आने के बाद इस भावना का प्रादुर्भाव कब हुआ, कैसे हुआ, इस बात का थोड़ा उल्लेख किया था। और राष्ट्रीयता की परिभाषा बतायी थी—"व्यक्ति के जीवन का अर्थ है कि हर साँस के साथ वह जीने का अपना संकल्प व्यक्त करता है। वह संकल्प रहता है सुप्त रूप में, अप्रकट रूप में, लेकिन वह संकल्प जीवन के रूप में व्यक्त होता है। उसी तरह जिस देश के लोगों के जीवन में निहित एक साथ रहने का संकल्प नित्य-व्यवहार में अभिव्यक्त होता है, वहाँ राष्ट्रीयता होती है।"

देशभक्ति और राष्ट्रीयता

भारतवर्ष में सन् १८५७ और १८५७ से पहले भी देशभक्त कुछ हुए। देशभक्ति से मतलब है पेट्रियाटिज्म—जिस भूमि पर हम रहते हैं, उस भूमि से जो प्रेम होता है उसे देशभक्ति या 'पेट्रियाटिज्म' कहते हैं। लेकिन देशभक्ति राष्ट्रीयता नहीं है। जो अराष्ट्रीय लोग हैं, उन्हें भी जहाँ वे रहते हैं, उस भूमि से प्यार होता है। राजा भी, जिस भूमि का वह होता है, उसे प्यार करता है। जमींदार भी जिस भूमि पर रहता है, उसे प्यार करता है। यह राष्ट्रीयता नहीं है। राष्ट्रीयता के लिए देशभक्ति अनिवार्य है, लेकिन देशभक्ति अपने में राष्ट्रीयता नहीं है।

सन् १८५७ और उससे पहले देशभक्ति थी, परन्तु जो लोग देशभक्त थे वे परम्परावादी थे, जीर्णमतवादी थे, पुराण मताभिमानी थे। इसलिए अंग्रेजों के खिलाफ जिन लोगों ने उग्र रुख अख्तियार किया, वे लोग प्रायः परम्पराभिमानी थे, जिन्हें आज की परिभाषा में प्रतिक्रियावादी कहेंगे। धर्माभिमानी, संस्कृत्यभिमानी थे—हिन्दुओं में भी और मुसलमानों में भी। मुसलमानों में एक

विशेषता यह थी कि मुसलमानों का धर्माभिमान अतिराष्ट्रीय रहा (एक्स्ट्रा टेरिटोरियल) । इसका कारण यह है कि उनका मुख्य तीर्थ तो भारत के बाहर है ही, परन्तु उन्होंने यह भी माना कि उनकी संस्कृति भी भारत के बाहर की है । भारतीय संस्कृति को उन्होंने अपना नहीं माना । इसलिए इस तरह की भारत-बाह्यनिष्ठा, अतिराष्ट्रीयता उनके रुख में रही । परिणाम यह हुआ कि उनके रुख में मुख्य सिद्धांत यह रहा कि गैर-मुस्लिम राज्य में रहना हराम है । इसी कारण देशभक्ति की अपेक्षा धर्माभिमान की मात्रा उनमें ज्यादह रही । इधर हिन्दुओं में भी जो आत्यन्तिक मतवादी थे, उग्रमतवादी थे, उनमें देश की अपेक्षा धर्म की भावना विशेष प्रखर थी, प्रबल थी । वे भी यह मानते थे कि म्लेच्छों के राज में रहना हराम है, गोमांस-भक्षकों के राज में रहना हराम है । लेकिन मुसलमानों के राज में वे रह चुके थे, इसलिए उनमें इतनी उग्रता नहीं थी ।' और दूसरे, जिसे भारत-बाह्य निष्ठा कहते हैं—(टेरिटोरियालिज्म)—वह हिन्दू देशभक्तों में कभी नहीं थी ।

राष्ट्रीय जागृति का इतिहास

सन् १८५७ से लेकर—उससे पहले की बात मैं छोड़ देता हूँ—१८७७ तक—बीस वर्ष का काल खण्ड मान सकते हैं । इस अध्याय को मैं छोड़ देता हूँ । इसलिए छोड़ देता हूँ कि उसके लिए एक पूरा व्याख्यान देना पड़ेगा । इसलिए इस सारे इतिहास को मैं छोड़ देता हूँ । इसकी एक ही विशेषता आप याद रखें, कि जो राजनीति में उग्रमतवादी थे, वे थे समाज-सुधार के विरोधी । जो समाज-सुधार के पुरस्कर्ता थे, वे राजनीति में उग्रमतवादी नहीं थे, सौम्य मतवादी थे । सन् १८७७ के लगभग महाराष्ट्र में एक अनोखा सशस्त्र क्रांतिवादी पुरुष प्रकट हुआ । उसका नाम था वासुदेव बलवंत फडके । वासुदेव बलवंत फडके की विशेषता यह थी कि सशस्त्र क्रांतिवादियों में सबसे पहले उसने कहा कि हमको प्रजा-सत्तात्मक राज्य चाहिए । उससे पहले किसी उग्रमतवादी देशभक्त ने यह नहीं कहा था । किसी सशस्त्र क्रान्तिवादी ने यह नहीं कहा था । उसी समय एक दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना देश के इतिहास में हुई । सन् १८७७ में पहला अखिल भारतीय दौरा हुआ । मैं इसे पहला अखिल भारतीय दौरा कहता हूँ, इसलिए कि इससे पहले जो दो अखिल भारतीय यात्राएँ हुई—एक आद्य शंकराचार्य की, और दूसरी ऋषि दयानंद की, वे दोनों धर्म-मत की संस्थापना के लिए थीं । एक संस्कृत भाषा में हुई, दूसरी मुख्य रूप हिन्दी में और कुछ संस्कृत भाषा में । लेकिन सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का यह जो

पहला दौरा सन् १८७७ में हुआ, वह एक नागरिक का दौरा था—एक ऐसा नागरिक जो राजा नहीं था, सेनापति नहीं था, संत नहीं था। और एक लौकिक विषय को लेकर हुआ। अखिल भारतीय लोक-जीवन से संबद्ध विषय को लेकर हुआ। विषय बहुत तुच्छ था, उस जमाने में जिस प्रकार के विषय हो सकते थे उस प्रकार का विषय था—सिविल सर्विस की उम्र की मर्यादा क्या हो? इस विषय को लेकर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने दौरा किया और वह दौरा अंग्रेजी भाषा में हुआ। अंग्रेजी भाषा इस देश की उन भाषाओं में से है, जिस भाषा ने भिन्न भाषिकों को मिलाया। इसलिए इस देश की सारी भाषाओं की अपेक्षा अंग्रेजी की भूमिका अधिक व्यापक है। और इसीलिए उस भाषा का विरोध या निषेध राष्ट्रीयता की दृष्टि से हमारे लिए हितकारक नहीं है।

तो ये दो घटनाएँ घटीं। वासुदेव फडके के जमाने से जो प्रवाह शुरू हुआ, उसकी दो धाराएँ हुईं—एक धारा हुई कांग्रेस की। सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना हुई, उसके पहले अध्यक्ष थे व्योमेशचन्द्र बनर्जी। कई वर्ष इंग्लैंड में रह चुके थे। इनके विषय में वर्णन किया गया है कि—"वे हाथ हिलाने से लेकर सिगरेट सुलगाने तक हर बात में अंग्रेज बन गये थे।" इसके खिलाफ एक प्रतिक्रिया इस देश में शुरू हो गयी थी कि ये स्वाभिमान-शून्य लोग हैं। पढ़े-लिखे बाबुओं का यह प्रवाह चला। लेकिन इस प्रवाह में सन् १८८७ में जब मद्रास में तीसरी कांग्रेस हुई थी—तो पूर्व बंगाल से बारीसाल के एक निवेदन पर अश्विनीकुमार दत्त ५ हजार किसानों के हस्ताक्षर लेकर आये थे, जिसमें यह माँग की गयी थी कि इस देश में उत्तरदायी शासन का प्रारम्भ होना चाहिए। कांग्रेस में जनता को शामिल कराने का यह पहला प्रयास था। उसका श्रेय अश्विनीकुमार दत्त को है। इसके बाद सन् १८८८ में कांग्रेस हुई। पहली कांग्रेस के अध्यक्ष व्योमेशचन्द्र बनर्जी हुए, दूसरी कांग्रेस के अध्यक्ष हुए दादाभाई नौरोजी—एक पारसी, और तीसरी कांग्रेस के अध्यक्ष हुए बद्रुद्दीन तैयबजी—एक मुसलमान। उस जमाने में जो मुसलमान कांग्रेस में भाग लेते थे, वे धर्म-निरपेक्ष मनोवृत्ति के थे। मैंने आप लोगों से निवेदन किया कि जो उग्रमतवादी हिन्दू थे, वे भी परम्पराभिमानी थे, जो उग्रमतवादी मुसलमान थे वे भी परम्पराभिमानी थे। दोनों की भूमिका यह थी कि अपने धर्म के विरुद्ध जो राज्य है, उस राज्य में रहना हराम है। लेकिन धर्म-निरपेक्ष भूमिका के मुसलमान कांग्रेसवादी थे—बद्रुद्दीन तैयबजी, इब्राहिम रहमतुल्ला, रहमतउल्ला सयानी, कलकत्ते के बैरिस्टर अब्दुल रसूल, अकबर हैदरी आज जो अकबर हैदरी हैं उनके पिता आदि। कई मुसलमान उस जमाने में ऐसे थे, जिनकी भूमिका नागरिकता की थी, धार्मिकता

की नहीं। उसके बाद कुछ धार्मिक वृत्ति के देशभक्त मुसलमान, धार्मिक वृत्ति के राष्ट्रभक्त मुसलमान इस देश में आये। बादशाहखान, डॉ० अन्सारी, हकीम अजमल खाँ की तरह के लोग। परन्तु अधिकतर राजनीति में उग्रमतवादी मुसलमान धार्मिक मनोवृत्ति के अधिक रहे। उग्रमतवादी हिन्दुओं में भी धार्मिक वृत्ति के हिन्दू, धर्म के पुनरुज्जीवन के पक्षपाती हिन्दू अधिक रहे। लेकिन ये जो मुसलमान कांग्रेस के आरम्भ में कांग्रेस के साथ थे, वे मुसलमान धर्म-निरपेक्ष मनोवृत्ति के थे। इसी बीच अलीगढ़ में सर सैयद अहमद ने मुसलमानों के लिए एक कॉलेज शुरू किया था, और जिसे अलीगढ़ स्कूल कहते हैं उस अलीगढ़ स्कूल का आरम्भ हो गया था। इस अलीगढ़ स्कूल का आरम्भ क्यों हुआ, सैयद अहमद खाँ ने जो रुख अख्तियार किया वह क्यों किया, उस रुख के क्या परिणाम हुए, ये सारा मैं आज आपके सामने निवेदन नहीं कर सकूँगा। इसीलिए कि वह एक स्वतंत्र अध्याय है, मुस्लिम पालिटिक्स एक पूरा-का-पूरा अध्याय है। इस पॉलिटिक्स का आरंभ एक तरह से सन् १८३० में वहाबी-आन्दोलन के जमाने में हुआ। एक कोई अमीर अली उसके नेता थे, वहाँ से उसका आरम्भ होता है। और धीरे-धीरे इसका विकास एक (सेपरेटिस्ट पॉलिटिक्स) व्यवच्छेदवादी पॉलिटिक्स में हुआ—ऐसी राजनीति में जिसने इस देश में फूट पैदा की। इस मुस्लिम राजनीति का आरम्भ कहाँ से हुआ, किस प्रकार से हुआ, यह सब आज कहने के लिए अवकाश नहीं है।

सन् १८८८ में चौथी कांग्रेस इलाहाबाद में हुई। और यह एक बात तो केवल आप लोगों की दिलचस्पी के लिए कह देता हूँ कि वहाँ पर सर ऑकलैंड कालव्हिन लेफ्टिनेन्ट गवर्नर थे। ये कुछ नाम प्रसिद्ध हैं लार्ड कर्जन, ऑकलैंड कालव्हिन डायर, ओड्वायर वगैरह। ये 'एपॉक्स' के द्योतक नाम हैं।

कालव्हिन ने यह निश्चय किया कि कांग्रेस नहीं होने दूँगा। कहीं कांग्रेस को जगह नहीं मिल रही थी, तो दरभंगा के राजा की वहाँ एक कोठी थी, उसमें कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। कालव्हिन के विरोध के कारण कांग्रेस के बारे में इलाहाबाद शहर की पर्दानशीन स्त्रियों को भी दिलचस्पी हुई और उन्होंने भी कांग्रेस के लिए चन्दा किया। इस कांग्रेस में पहले-पहल कुछ राष्ट्रवादी मुसलमान आये। उन्होंने कहा कि यह जो अलीगढ़ का सम्प्रदाय है, वह ठकुरसुहाती करनेवाला है। इन दिनों कांग्रेस विशुद्ध राजनैतिक संस्था थी। उसमें साम्प्रदायिकता या धार्मिकता के लिए अवकाश नहीं था। इसलिए उस वक्त प्रश्न यह था कि क्या सामाजिक प्रश्नों का भी विचार कांग्रेस में किया जायगा ? तो दादाभाई नौरोजी ने कहा, सामाजिक प्रश्न हर समाज के

अपने-अपने हैं। इसलिए सामाजिक प्रश्नों का विचार कांग्रेस में नहीं होगा। केवल राजनैतिक प्रश्नों तक कांग्रेस अपने को सीमित रखे। क्योंकि यह कांग्रेस सारे भारतवर्ष की है। सारे सम्प्रदायों की, सारी जातियों की, सारी जमातों की है। इस प्रकार की घोषणा दादाभाई नौरोजी ने सन् १८८६ में की थी। दादाभाई नौरोजी, यह कहा जा सकता है कि इस देश के देशभक्तों के शिरोमणि थे। जिसे आप खालिस देशभक्ति कहते हैं, विशुद्ध देशभक्ति कहते हैं, उसकी वे मूर्ति थे। जिसमें धर्म, भाषा, जाति, सम्प्रदाय, संस्कृति किसीकी मिलावट नहीं, ऐसी देशभक्ति के प्रतीक थे। इस प्रकार विशुद्ध देशभक्ति इस देश के पारसियों में रही। यह एक जमात ऐसी है, जिसमें विशुद्ध नागरिकता रही। उस नागरिकता का कोई विशेषण नहीं रहा। सामासिक नागरिकता, गौण नागरिकता, किसी प्रकार की विशिष्ट नागरिकता, आंशिक या दोयम नागरिकता इस देश के पारसी नागरिकों में नहीं रही। उनके अग्रणी पितामह दादाभाई नौरोजी थे। इसलिए दादाभाई नौरोजी तीन बार कांग्रेस के अध्यक्ष हुए। तीनों बार कुछ-न-कुछ ऐसी बात कही, जिसका इस देश के आन्दोलन में बहुत महत्त्व रहा।

इसी समय महाराष्ट्र में लोकमान्य तिलक ने एक आन्दोलन शुरू किया—शिवाजी-उत्सव का और गणेश-उत्सव का। लोक-जागृति के लिए एक ऐतिहासिक महापुरुष का उत्सव लिया और दूसरा धार्मिक। जमाना कुछ ऐसा था कि धर्म के नाम पर ही आप राष्ट्रीय आन्दोलन कर सकते थे। स्वराज्य के नाम पर आन्दोलन करने में कठिनाई थी। इसलिए धर्म का आवरण लिया। धर्म के आच्छादन के नीचे राजनैतिक आन्दोलन शुरू किया। और लार्ड कर्जन या दूसरे किसी अत्याचारी के बारे में कहना हो, तो लोग किसी मुसलमान का, औरंगजेब का नाम ले लिया करते थे। नाटक लिखना हो, उपन्यास लिखना हो, तो औरंगजेब को सामने रख लिया, या किसी दूसरे अत्याचारी मुसलमान बादशाह का नाम रख लिया और उसको लेकर कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक लिख डाला। असल में होता था वह अंग्रेजों के खिलाफ, लेकिन नाम रहता था किसी मुसलमान अत्याचारी बादशाह का। इससे लाभ उठाकर यह भ्रम फैलाया गया कि लोकमान्य तिलक मुसलमानों के खिलाफ एक आन्दोलन शुरू कर रहे हैं। तिलक पर मुकदमा वगैरह भी चला। सन् १८९७ में तिलक को कारावास की सजा हुई, तब से देशभक्तों का जेल जाना गौरव का विषय हो गया।

यह एक तीसरा प्रवाह चल पड़ा। एक सशस्त्र क्रान्ति का प्रवाह था, दूसरा प्रवाह कांग्रेस का था, और यह तीसरा प्रवाह। ऐसे तीन प्रवाह चले। सशस्त्र क्रान्ति का प्रवाह तो गुप्त प्रवाह था—सरस्वती की तरह। ये गंगा-

यमुना के दो प्रवाह चले। इन प्रवाहों में हमको इतना ही देखना है कि ये लोग जो स्वराज्य चाहते थे, वह किस प्रकार का स्वराज्य था। कांग्रेस के मंच पर से जिस स्वराज्य की घोषणा की गयी, यह तो पार्लियामेण्टरी पद्धति का शासन था—उत्तरदायी शासन, पार्लियामेण्टरी शासन। वे लोग कहते थे कि यह साम्राज्यांतर्गत स्वराज्य होगा। अंग्रेजों के साम्राज्य की छत्र-छाया में औपनिवेशिक स्वराज्य होगा। यह कांग्रेस की माँग थी। मुस्लिमलीग उस वक्त थी ही नहीं। सन् १९०५ तक यह चला।

सन् १९०५ में एक ऐसा प्रसंग हुआ कि सारे राष्ट्रीय आन्दोलन ने एक नया मोड़ लिया। लार्ड कर्जन ने बंगाल का विभाजन किया, विच्छेद किया। अब इसमें यह आशंका हुई कि लार्ड कर्जन की नीयत हिन्दू और मुसलमानों को अलग करने की है। लार्ड कर्जन एक ऐसा आदमी था, जिसे प्रतिक्रियावादी, परम्परावादी, कंजरवेटिव्ह, गतानुगतिक कहते हैं। यह सब होते हुए भी इस देश के हिन्दू-मुसलमान को लड़ा देने की उसकी नीयत थी या नहीं, यह कहना मुश्किल है। फिर भी परिणाम अवश्य हिन्दू-मुसलमानों को अलग करने में हुआ। इसलिए सन् १९०५ में जब यह बंग-विच्छेद हुआ, तो उसके विरुद्ध बंगाल में एक जबरदस्त आन्दोलन शुरू हुआ, प्रचण्ड आन्दोलन शुरू हुआ। भारतीय राष्ट्र का पुनरुज्जीवन या पुनरुत्थान और जागरण वहाँ से आरम्भ होता है। सन् १९०५-६-७ तक तो वह आन्दोलन बहुत उग्र हो उठा। इसी आन्दोलन के दौरान जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, महाराष्ट्र से लोकमान्य तिलक आये, पंजाब से लाला लाजपतराय आये, बंगाल से विपिनचन्द्र पाल और श्री अरविन्द आये। असल में बात ऐसी है कि आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता का दर्शन बंगाल का है। इसके अधिकतर मंत्र-द्रष्टा हुए, बंगाल में। दूसरों ने दूसरी कल्पनाएँ कीं, संगठन की कल्पनाएँ कीं। अभिक्रम की कल्पनाएँ कीं। पराक्रम किया। लोकमान्य तिलक का पराक्रम उस जमाने के दूसरे लोगों से अधिक उज्ज्वल और प्रेरणादायी था, क्योंकि ये पहले 'मास-लीडर' थे। पहले लोक-नेता थे। लेकिन मंत्र-द्रष्टा ऋषि बंगाल के ही थे—विपिन पाल, ब्रह्म बन्दोपाध्याय, श्री अरविन्द इत्यादि।

इसी जमाने में सन् १९०६ में ढाका में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। ढाका का लेफ्टिनेन्ट गवर्नर उस जमाने में था सर वैमफिल्ड पुलर। सर वैमफिल्ड पुलर एक अजीब-सा आदमी था। सर सैयद अहमद खाँ ने कहा था कि भारत-माता की दो आँखें हैं—एक हिन्दू और दूसरी मुसलमान। सर वैमफिल्ड पुलर ने कहा कि अंग्रेज शाहनशाह की दो स्त्रियाँ हैं—एक हिन्दू और दूसरी

मुसलमान। और मुसलमान पटरानी है। यह 'फेवरिट वाइफ थिअरी' कहलाती है। लार्ड मिण्टो उस वक्त वाइसराय था। इन दोनों ने मिलकर यह कोशिश की कि मुसलमान मिलकर अपना एक अलग संगठन करें। अंग्रेजों ने हिन्दू-मुसलमान समस्या पैदा की, यह कहना गलत है। हिन्दू-मुस्लिम समस्या थी, उससे लाभ अंग्रेजों ने उठाया। न उठाते तो बेवकूफ साबित होते। तो उन्होंने यह कहा कि पूर्व बंगाल तो तुम्हारा है, मुसलमानों का है, तुमको नाराज होने की कोई जरूरत नहीं। तुम अपना संगठन करो। तो नवाब सलीमउल्ला खाँ—ढाका के नवाब का भाई—की अध्यक्षता में १९०६ में ढाका में 'मुस्लिमलीग' की स्थापना हुई। इस मुस्लिमलीग का उद्देश्य यह था कि इस देश में अंग्रेजी राज्य की जड़ें मजबूत करें। अंग्रेजी राज के प्रति निष्ठा रहे। कारण स्पष्ट था, हिन्दू अंग्रेजी शिक्षा में आगे बढ़ गये थे, नौकरियों में आगे बढ़ गये थे, सामाजिक प्रतिष्ठा में आगे बढ़ गये थे। मुसलमान पिछड़े हुए थे। उनको अगर हिन्दुओं की बराबरी पर लाना हो, तो अंग्रेजों की खैरख्वाही आवश्यक थी। क्योंकि सन् १८५७ से पहले और १८५७ के बाद भी अंग्रेजों का यह खयाल था कि जितना विद्रोह इस देश में होता है, वह मुसलमान कराते हैं, क्योंकि हमने इनके हाथ से सत्ता छीनी है। तो यह जो उनके बारे में राय बन गयी थी, उसे बदल देना आवश्यक था। इसलिए मुस्लिमलीग ने यह रुख अख्तियार किया।

सन् १९१४ में प्रथम महायुद्ध शुरू हुआ। इसमें तुर्कस्तान ने जर्मनी की तरफ से इंग्लैंड के खिलाफ युद्ध में हिस्सा लिया। सवाल यह हुआ कि अब यहाँ का मुसलमान क्या करेगा? उधर तुर्कस्तान की मसजिदों में यह प्रार्थना होने लगी कि जर्मनी जीते, अंग्रेजों के दाँत खट्टे हों। यहाँ क्या हो? यहाँ के मुसलमानों के बारे में फिर अंग्रेज सरकार के मन में शक पैदा हुआ। मौलाना मुहम्मद अली, मौलाना शौकत अली, मौलाना अबुल कलाम आजाद इन सबको कैद में रखा गया। इनके ऊपर शक हुआ।

ऐसी परिस्थिति में लोकमान्य तिलक जेल से छूटकर आये। सन् १९०७ से कांग्रेस और ये उग्रमतवादी राष्ट्रीय लोग एक-दूसरे से अलग हो गये थे। उग्रमतवादी राष्ट्रीय पक्ष के लोग निःशस्त्र प्रतिकार का प्रतिपादन करते थे। वे सशस्त्र प्रतिकारवादी नहीं, निःशस्त्र प्रतिकारवादी थे। लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय और श्री विपिन पाल वगैरह नरमदलवालों से इनका झगड़ा सूरत की कांग्रेस में हुआ, तब से ये अलग-अलग हो गये। कांग्रेस अलग रही और इनका राष्ट्रीय पक्ष अलग रहा।

सन् १९१४ में जब लोकमान्य माण्डले से छूटकर आये, तो उन्होंने एक वक्तव्य

दिया, जिस वक्तव्य में कहा था कि इस वक्त इस लड़ाई में अंग्रेजों की मदद करना बहुत आवश्यक है। क्योंकि अंग्रेज जीतेंगे तो हमारे स्वराज्य के लिए कुछ मौका है, हारेंगे तो कोई मौका नहीं मिलेगा। उस वक्तव्य के बारे में लोग तो ऐसा कहते थे कि उसे गोखले ने लिखा और लोकमान्य ने उस पर हस्ताक्षर किया। इतना सौम्य, इतना 'माडरेट' वह वक्तव्य था। उसी वक्त सन् १९१४ में कांग्रेस हुई मद्रास में। १९१३ के बाद कांग्रेस के और मुस्लिमलीग के अधिवेशन एक ही शहर में होने लगे। अलग-अलग, लेकिन एक ही शहर में। सामाजिक परिषद् (सोशल रिफार्म्स कान्फरेंस) कांग्रेस से अलग थी। कुछ दिन तो कांग्रेस के साथ उसी शहर में उसके अधिवेशन होते रहे। लेकिन बाद में वह अलग हो गयी, क्योंकि ये जितने उग्रमतवादी कांग्रेसी देशभक्त थे, समाज-सुधार के बहुत अनुकूल नहीं थे। और पूना-कांग्रेस के बाद तो इन लोगों ने हमारे जो उग्रमतवादी ('एक्सट्रिमिस्ट') देशभक्त थे, उन्होंने कहा कि हम समाज-सुधार परिषद् का मण्डप ही जला देंगे। इसलिए वह सोशल कान्फरेंस अलग हो गयी। लेकिन 'मुस्लिमलीग' को नजदीक लाने की कोशिश हुई। सन् १९०९ से मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन का अधिकार मिल गया था। मोर्लेमिण्टो रिफार्म्स उसे कहते हैं। एक मुसलमानों का शिष्टमण्डल वायसराय से—लार्ड मिण्टो से—उससे पहले जाकर मिला। मौलाना मुहम्मद अली ने उसके विषय में कहा था 'इट वाज ए कमांड परफारमेन्स' (यह नाटक लार्ड मोर्ले के संकेत से हुआ था)। इसलिए इस शिष्टमण्डल को सरकार ने ही प्रेरित किया और मुसलमानों से कहा कि तुम पृथक् निर्वाचन माँगो। तब पृथक् निर्वाचन की माँग मुसलमानों ने की। तभी से यह अलगाव की राजनीति आयी। जो अलगपन की वृत्ति पहले केवल सांस्कृतिक और धार्मिक थी, वह अब राजनीति में आ गयी।

मुस्लिमलीग के साथ किसी-न-किसी प्रकार का समझौता करने की आवश्यकता कांग्रेस को महसूस हुई। सन् १९१३ में करांची में पहली बार अधिवेशन हुआ कांग्रेस का और मुस्लिमलीग का। उसके बाद मुस्लिमलीग के अधिवेशन कांग्रेस के साथ-साथ होने लगे। सन् १९१५ में बम्बई में अधिवेशन हुआ, जिसके अध्यक्ष थे सर सत्येन्द्र प्रसन्न सिंह और मुस्लिमलीग के अध्यक्ष हुए बैरिस्टर मजरुल हक। सर सत्येन्द्र प्रसन्न सिंह का कांग्रेस के मंच पर से जो भाषण हुआ, वह इतना नरम हुआ, इतना पिलपिला हुआ, कि लोगों ने कहा, यह क्या भाषण हुआ ? और मरुजल हक का जो भाषण हुआ, वह राष्ट्रीयता से लबालब भाषण था। तो लोगों ने यह कहा कि ये दोनों जब पटने से चले, एक ही डिब्बे में थे, तो

इनके भाषण बदल गये। कांग्रेस का भाषण मु स्लमलीग के मंच पर से पढ़ा गया और लीग का भाषण कांग्रेस के मंच पर से। क्योंकि अंग्रेजी राज के प्रति वफादारी मुस्लिमलीग का क्रीड था। उन्होंने उसे अपना ध्येय बनाया था, सिद्धांत बनाया था।

सन् १९१५ के लगभग लोकमान्य तिलक और एनी बेसेन्ट ने होमरूल लीगें शुरू कर दी थीं। एक लोकमान्य तिलक की 'होमरूल लीग' और दूसरी एनी बेसेन्ट की। 'एनी बेसेन्ट' की होमरूल लीग के अध्यक्ष थे मुहम्मद अली जिन्ना। मुहम्मद अली जिन्ना सम्प्रदाय-निरपेक्ष राजनीति के बहुत बड़े पक्षपाती और प्रवक्ता थे। उस वक्त के देशभक्तों में वे एक बहुत बड़े देशभक्त थे। सन् १९१६ में कांग्रेस लखनऊ में हुई। यहाँ पर मुस्लिमलीग और कांग्रेस का एक समझौता हुआ। लोकमान्य ने कहा—"We are thus united in the United Provinces and we have found that luck in Lucknow."—(इस तरह हम संयुक्त प्रदेश में संयुक्त हुए और यह 'लक' (सद्भाग्य) हमें लकनाऊ (लखनऊ) में प्राप्त हुआ।

सन् १९१६-१७ में एनी बेसेन्ट और उनके दो तगड़े साथी जॉर्ज अरुण्डेल तथा बी० पी० वाडिया को इंटर्न किया गया। शहर की सीमा से बाहर जाने की उन्हें मुमानियत की गयी। एनी बेसेन्ट की लोकप्रियता में चार चाँद लग गये।

सन् १९१६ से 'माडरेट' और 'एक्स्ट्रीमिस्टस' दोनों एक मंच पर आये थे। सन् १९१७ में जो कांग्रेस हुई, उसकी अध्यक्ष एनी बेसेन्ट हुईं। पहली बार कांग्रेस की अध्यक्ष एक स्त्री हुई। यहाँ पर लोकमान्य तिलक ने एक वाक्य में कांग्रेस के अभिप्रेत स्वराज्य की व्याख्या की—"Call it self-government, call it responsible government or call it the ABC form of government. What we want is that the Executive should be wholly responsible to the Legislature and the Legislature wholly elected." (आप उसे स्वयं-शासन कहिए, उत्तरदायी-शासन कहिए, या अ-ब-क पद्धति का शासन कह लीजिए। हम इतना ही चाहते हैं कि कार्यकारिणी विधानसभा के प्रति संपूर्ण रूप से उत्तरदायी हो और विधानसभा पूर्ण रूप से लोक-निर्वाचित हो।) उससे पहले लोकमान्य से बार-बार कहा जाता कि आप स्वराज्य की व्याख्या कीजिए। जिस स्वराज्य के लिए यह आन्दोलन है, उस स्वराज्य की कुछ परिभाषा, कुछ कल्पना हमको दीजिए। तो वे कहते थे स्वदेशी ही स्वराज्य है, राष्ट्रीय शिक्षण ही स्वराज्य है। जैसे गांधी कहते थे हिन्दू-

मुस्लिम एकता ही स्वराज्य है, अस्पृश्यता-निवारण ही स्वराज्य है। साधन ही साध्य है। इस तरह की बात कहा करते थे। लेकिन पहले-पहल उन्होंने सन् १९१७ में स्वराज्य की राजनैतिक परिभाषा में व्याख्या की। स्वराज्य शब्द का उच्चारण कांग्रेस के मंच से पहले-पहल सन् १९०६ में दादाभाई नौरोजी ने किया। उससे पहले रिस्पांसिबुल गवर्नमेंट, सेल्फ गवर्नमेन्ट—ये शब्द चलते थे। लेकिन दादाभाई नौरोजी ने सन् १९०६ में कलकत्ते की कांग्रेस में पहली बार यह कहा कि हमारा ध्येय स्वराज्य है। लोकमान्य तिलक 'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है', यह मंत्र दे चुके थे। लेकिन कांग्रेस के मंच पर से दादाभाई ने ही पहले-पहल उसकी घोषणा की। सन् १९२० में लोकमान्य दिवंगत हुए। गांधी राजनैतिक क्षितिज पर आये। राजनैतिक क्षितिज पर गांधी के आविर्भाव से दो नयी चीजें आयीं। एक तो राजनीति में सभ्यता आयी, और दूसरे राजनीति में ईमान आया। ये दोनों चीजें राजनीति के लिए गलत मानी जाती थीं। व्यक्तिगत व्यवहार में सचाई हो, ईमान हो, लेकिन राजनैतिक व्यवहार के लिए सचाई और ईमान गलत माने गये थे। राजनीतिज्ञ के लिए तो सचाई और ईमान दोनों अपथ्य हैं। गांधी ने पहले-पहल अमृतसर की कांग्रेस में कहा कि जलियानवाला में सरकार की तरफ से जो अत्याचार हुए, उनका निषेध तो हो; लेकिन जनता की तरफ से जो अत्याचार हुए, उनका भी धिक्कार हो। यह एक नयी चीज थी। किसीने कभी सोचा नहीं था कि अपने-आपका भी धिक्कार किया जा सकता है, लोगों का भी धिक्कार किया जा सकता है। ये नैतिक मूल्य, सदाचार के मूल्य, राजनैतिक जीवन में प्रविष्ट कराने की चेष्टा गांधी ने की। उनसे पहले गोखले ने यह की थी। इसलिए गांधी ने गोखले को अपना गुरु माना। गोखले ने भारत सेवक समाज (सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी) जब बनायी, स्पिरिचुआलाइजेशन ऑफ पब्लिक लाइफ (सार्वजनिक जीवन के आध्यात्मीकरण) की बात की। तो गोखले हुए गांधी के गुरु, लेकिन गांधी उत्तराधिकारी तो हुआ श्री अरविन्द का और लोकमान्य का। तब गांधी के सामने यह प्रश्न बार-बार आया कि तुम किस स्वराज्य के लिए कोशिश कर रहे हो ? सन् १९२२-२३ में, मुझे ठीक याद नहीं है, बंगाल के गवर्नर थे लॉर्ड रोनाल्ड शे। उन्होंने एक पुस्तक लिखी—'दि हार्ट ऑफ हिन्दुस्तान'। लॉर्ड रोनाल्ड शे ने लिखा कि गांधी के पीछे भारत के लोगो तुम जा रहे हो, तुमको पता है कि यह क्या-क्या चाहता है ? यह रेल-गाड़ियाँ नहीं चाहता, यह अस्पताल नहीं चाहता, यह डॉक्टर नहीं चाहता, यह वकील नहीं चाहता, यह युनिवर्सिटी का शिक्षण नहीं चाहता। अब बतलाओ ऐसे गांधी के स्वराज्य में आप लोगों को रहना है, ऐसे गांधी के स्वराज्य के

लिए आप लड़ रहे हैं ? क्या सारा आन्दोलन उस स्वराज्य के लिए है, जिस स्वराज्य का निरूपण गांधी ने अपनी 'इण्डियन होमरूल' (हिन्द स्वराज्य) पुस्तिका में किया है ? गांधी ने उसका जवाब दिया कि मैं अपने लिए तो वही स्वराज्य चाहता हूँ। भारत के लोग अगर मेरी मानें तो मैं वही स्वराज्य चाहूँगा। लेकिन आज मैं जिस स्वराज्य के लिए काम कर रहा हूँ, वह पार्लमेन्टरी पद्धति का स्वराज्य है। इस प्रकार गांधी ने भी स्वराज्य की वही व्याख्या की, जो सन् १९१७ में लोकमान्य ने की थी। सन् १९२१ के बाद तो डॉ० भगवानदास ने, देशबन्धु दास ने स्वराज्य की अपनी-अपनी योजनाएँ बनायीं। एनी बेसेन्ट ने 'कामनवेल्थ ऑफ इण्डिया बिल' बनाया। मोतीलाल नेहरू कमेटी की भी एक योजना बनी, कई तरह की योजनाएँ बनीं। लेकिन गांधी ने यह निश्चित कहा कि मैं जिस स्वराज्य के लिए अब कांग्रेस की तरफ से संघर्ष कर रहा हूँ, वह स्वराज्य पार्लमेन्टरी पद्धति का स्वराज्य होगा। यह सारा इतिहास मैंने आपको इसलिए बतलाया। शुरू से ही हमारे नेताओं का यह संकल्प रहा कि इस देश के स्वराज्य में राज्य-पद्धति लोकसत्तात्मक राज्य-पद्धति होगी। और कांग्रेस जिसके लिए कोशिश कर रही थी, संघर्ष कर रही थी, वह पार्लमेन्टरी पद्धति होगी। इस पार्लमेन्टरी पद्धति का विकास कैसे हुआ, यह सारा इतिहास अब मैं छोड़ देता हूँ। आज हम जिसे पॉलिटिक्स (राजनीति) कहते हैं, उसकी स्थिति बड़ी विचित्र है। Politics is to-day a dead-end street—राजनीति आज एक अंधी गली है—ऐसी गली, जो दूसरी तरफ से बन्द है। जैसे एक गली हो और आगे उसके एक तरफ से जाने के लिए ही रास्ता हो और दूसरी तरफ कोई रास्ता न हो। ऐसी आज हमारी राजनीति की दशा हो गयी है। हमारे सामने जो जटिल समस्याएँ हैं, उनके समाधान का मार्ग इस राजनीति के द्वारा नहीं मिलेगा। समस्याओं को समझने के बाद शायद हमें उनके हल खोजने में मदद मिले। इस दृष्टि से हम समस्याओं का अध्ययन करेंगे। सबसे पहले राष्ट्रीय एकता को ही ले लें। राष्ट्रीय एकता के पक्ष में कौन-कौन से भावरूप आशास्थान थे, इसको हम पहले देख लें। सबसे बड़ा आशा का स्थान है ज्योग्राफिकल इंटेग्रिटी (भौगोलिक अखण्डता)। पुराने जमाने में भारतवर्ष भरतखण्ड नाम से प्रसिद्ध था। उसकी क्या सीमाएँ थीं, कुछ मैंने आपको बतलाया। लेकिन आज जिसे हम भारतवर्ष कहते हैं, यह अंग्रेजों से मिली हुई विरासत है। तभी तो हम दूसरे देशों के साथ सीमा-विवाद के समय कहते हैं कि यह हमारा था, आप ले रहे हैं। तो वह कहता है कि भैया, अंग्रेजों ने यह हमसे जबरदस्ती छीन लिया था, अब तुम भी उसे छीन लोगे ?

तो हम कहते हैं कि नहीं, हम अंग्रेजों के वारिस हैं, उत्तराधिकारी हैं, हमको उनका पूरा राज मिलना चाहिए। श्रीलंका और ब्रह्मदेश को छोड़ दिया, तब तक तो हम चुप रहे। अंग्रेजों ने श्रीलंका को और ब्रह्मदेश को भी अपने साम्राज्य में मिलाया था। अफगानिस्तान पर भी उसका बहुत प्रभुत्व था। इसीलिए तो विनोबा कहा करते हैं कि ए० बी० सी० एक ट्रँगल (त्रिकोण) है अफगानिस्तान, ब्रह्मदेश और सीलोन। इस तरह का राज अंग्रेजों का था। लेकिन हमको जो उत्तराधिकार में मिला, उसीको हमने भारतवर्ष माना। इसमें पाकिस्तान के बाद भी आज एक भौगोलिक अखण्डता है। यह जो भौगोलिक अखण्डता है, इसके कारण एकता की भावना है। दूसरी भावरूप चीज यह है कि हमारे संविधान में अब तक दिल्ली पर जोर है। केन्द्र में विशेष सत्ता है। विकेन्द्रीकरण की दृष्टि से यह चीज गलत मानी जाती है। परन्तु राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से उसका महत्त्व है। आज जब कि क्षुद्र क्षेत्रीय अस्मिताओं का बाजार गर्म है, हम ग्राम-संजीवन की धुन में दिल्ली को कहीं निःसत्त्व न बना दें। तो, यह दूसरी भावरूप चीज हुई राष्ट्रीय एकता के पक्ष में।

राष्ट्रीय एकात्मता की सम्भावना

प्राचीन काल से हिन्दुओं ने इस देश को एक देश और पवित्र देश माना है। और इस देश के बाहर किसी दूसरे देश को उन्होंने अपना स्वदेश या पुण्यभूमि नहीं माना है। इस बात में दूसरी जमातों को हिन्दुओं की भूमिका अपनानी चाहिए। वे इसे अपना स्वदेश मानें और अन्य किसी देश को भारत से अधिक अपना स्वदेश न मानें। चौथी चीज है संयोजन। संयोजन राष्ट्रीय योजना के रूप में हो रहा है। आज हम इसको गलत मानते हैं। कहते हैं कि संयोजन गाँव से होना चाहिए। लेकिन मैं आपके सामने उन पहलुओं को रख रहा हूँ, जिन पहलुओं से राष्ट्रीय एकात्मता की संभावना है। राष्ट्रीय संयोजन इसका एक अंग है। इसके कारण आज सारा राष्ट्र एक है। इसके बाद एक पाँचवीं चीज यह थी कि इस देश में राष्ट्रीय नेता थे। अंग्रेजों से पहले कभी नहीं थे। अंग्रेजी राज की एक देन यह भी है कि इस देश में अखिल भारतीय नेता हुए। स्वराज्य के पहले और अंग्रेजी राज के जमाने से हमारे देश में अखिल भारतीय नेता हुए। यह जो अखिल भारतीय नेतृत्व था, उसके कारण भी एक अखिल भारतीयता रही। गांधी को मैं भारतीय मानवता का प्रतीक मानता हूँ। गांधी-नेहरू का प्रतीकरूप में जिक्र कर रहा हूँ। और भी बहुत-से नेता थे। इनके लिए जो निष्ठा यहाँ के लोगों में रही, उसके फलस्वरूप एक भारतीय

भावना पुष्ट हुई। अखिल भारतीय नेतृत्व भारतीय एकता का एक कारण रहा। इसी एकता के कारण अंग्रेजी राज यहाँ से जा सका। अगर यह एकता न होती तो अंग्रेजी राज हट नहीं सकता था।

राजनीति में सम्प्रदायवाद

ये कुछ लक्षण हैं। ये ऐसे लक्षण हैं, जिनको हम भावरूप कह सकते हैं। लेकिन चिंता के भी कुछ विषय हैं, जिनमें से समस्याएँ पैदा होती हैं। इनमें से एक समस्या है—इस देश की राजनीति में सम्प्रदायवाद का प्रादुर्भाव है। मैंने आपसे निवेदन किया था कि इस सम्प्रदायवाद के लिए जिम्मेवार यहाँ के मुसलमान हैं। हमने यह माना था कि पाकिस्तान के निर्माण के बाद हिन्दू और मुसलमानों के बीच यह जो खाई है, वह नहीं रहेगी। उन्होंने पाकिस्तान की माँग की थी, पाकिस्तान बन गया। अब कोई कारण नहीं रह गया था किसी प्रकार के संघर्ष का। लेकिन पाकिस्तान के निर्माण के बाद भी यहाँ के मुसलमानों ने एक बड़ी तादाद में भारत में रहने का संकल्प किया। इस संकल्प का कि हम एक धर्मनिरपेक्ष राज्य में रहेंगे, मतलब यह हुआ कि भिन्नधर्मियों के साथ सत्ता में हम साझेदार होंगे। यानी सत्ता का शेयरिंग होगा। पाकिस्तान का मतलब यह था कि एक मुसलमान के नाते हम अलग राष्ट्र हैं, और हमें अलग राज्य चाहिए। इसका मतलब है कि दूसरों के साथ एक राज्य में हम नहीं रह सकते। यह बहुत भयानक चीज है, अत्यन्त मानव-द्रोही वृत्ति है। धर्म के आधार पर कोई यह कहे कि मैं अन्यधर्मियों के साथ नहीं रह सकता हूँ—इसमें देश-विद्रोह और मानव-द्रोह है। इसीमें से पाकिस्तान में जो राज्य-पद्धति आयी, वह थियोक्रेटिक डिक्टेटरशिप की आयी—पारलौकिक अधिनायकत्व। बाकी सारी डिक्टेटरशिप्स लौकिक हैं, भौतिक हैं, इस जगत् की हैं। यह पारलौकिक है। अधिक भयानक है। तो पाकिस्तान के निर्माण के बाद यह माना गया था कि मुस्लिम संप्रदायवाद का अन्त होगा। लेकिन यह नहीं हुआ। इस देश में सम्प्रदायवाद के जनक मुसलमान हैं। सम्प्रदायवाद की परिभाषा यह है कि जब आप अपनी नागरिकता का आधार अपने सम्प्रदाय को बनाते हैं, तो सम्प्रदायवादी होते हैं। सम्प्रदायवादी वह है, जो अपने सम्प्रदाय की नागरिकता का आधार बनाता है—चाहे वह हिन्दू हो, सिख हो, मुसलमान हो, या और कोई हो। इसका एक परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं में प्रतिसम्प्रदायवाद जाग उठा। जाति पहले हो थी, उसके साथ प्रतिसम्प्रदायवाद आया। मुसलमानों की नकल हुई। सिखों में सम्प्रदायवाद

आया—सिख सम्प्रदायवाद, हिन्दू प्रतिसम्प्रदायवाद और मुसलमानों का मूल सम्प्रदायवाद। इस प्रकार सम्प्रदायवाद और प्रतिसम्प्रदायवाद फैलने लगा। इसमें से दूसरे जो सम्प्रदाय हैं, वे किसी अंश में बचे हुए हैं। दूसरे सम्प्रदाय का राजनीति में प्रवेश नहीं हुआ। उन्होंने अपने सम्प्रदाय को नागरिकता का आधार नहीं बनाया। इस देश के जो ईसाई हैं, वे अपनी अलग भाषा नहीं बतलाते। ईसाई हो जाने पर नाम बदलना भी जरूरी नहीं है। भाषा नहीं बदलते, नाम बदलना जरूरी नहीं है, पोशाक बदलना जरूरी नहीं है। इसलिए यहाँ जो ईसाई हैं, वे उग्र सम्प्रदायवादी नहीं हैं। बौद्ध हैं, जैन हैं, दूसरे सम्प्रदाय भी इसी प्रकार के हैं। सिख सम्प्रदाय भी ऐसा हो सकता था। लेकिन वह नहीं हुआ। सिखों ने भी अपने सम्प्रदाय को नागरिकता का आधार माना। इसका एक कारण है। सिख समाज में थियोक्रेटिक डेमोक्रेसी (आधिदैविक लोकतंत्र) है। इसलिए वे अपनी भाषा ही नहीं, लिपि भी अलग बतलाते हैं। पोशाक और बाहरी चिह्नों का भी नागरिकता के मूलभूत अधिकारों में समावेश आग्रहपूर्वक कराते हैं।

इस देश में कुछ प्रभावशाली नेता ऐसे हुए, जिन्होंने यह संकल्प किया कि भारतवर्ष में जो स्वराज्य स्थापित होगा, वह लोकतंत्रात्मक स्वराज्य होगा। वासुदेव बलवंत फडके से पहले भी महाराष्ट्र में कुछ व्यक्ति ऐसे हुए, विष्णुबुवा ब्रह्मचारी जैसे, जिन्होंने करीब-करीब कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो जैसा मैनीफेस्टो ही प्रकाशित कर दिया था। परन्तु फिर भी प्रत्यक्ष आन्दोलन जिन लोगों ने किये, उनमें वासुदेव बलवंत फडके का नाम मैंने लिया था। बाद में लोकमान्य तिलक और गांधी तक हम लोग आये। गांधी ने कहा था कि मुझे राम-राज्य की स्थापना करनी है। परन्तु स्वराज्य की व्याख्या अन्त में उन्होंने यही की थी कि इस देश में पार्लमेण्टरी पद्धति का शासन स्थापित होना चाहिए।

लोकतन्त्र का भविष्य

आज हमारे सामने जो मुख्य प्रश्न है, वह वह है कि अब संसार में लोकतंत्र का भविष्य क्या होगा ? दो छावनियाँ बन गयी हैं। एक छावनी है कम्युनिज्म की, जिसे लोग डिक्टेटरशिप की छावनी कहते हैं। दूसरी छावनी लोकतंत्र की छावनी है और इन दोनों में एक प्रकार की स्पर्धा है। स्पर्धा यह है कि साधारण मनुष्य का सुख और साधारण मनुष्य का कल्याण—इन दोनों पद्धतियों में से कौन-सी पद्धति अधिक मात्रा में और अधिक शीघ्र सिद्ध कर सकती है। जो लोकतंत्रवादी देश हैं, उनका कहना यह है कि मनुष्य की मुख्य आवश्यकता, उसकी

मुख्य आकांक्षा स्वतंत्रता है। अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता जहाँ होगी, वहाँ मनुष्यता का अधिक-से-अधिक विकास होगा। दूसरी छावनी का यह कहना है कि मनुष्य अगर भूखा होगा तो वह अपनी स्वतंत्रता को भी खा लेगा और देश को भी खा लेगा। स्वतंत्रता के उपभोग के लिए यह आवश्यक है कि उसकी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो। यह पूर्ति अगर नहीं होती है तो स्वतंत्रता का उपभोग मनुष्य नहीं कर सकेगा। यह इन दोनों का मतभेद है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने एक दफा कहा था, उसका वाक्य बहुत प्रसिद्ध है—"It is better to be a man dissatisfied than a pig satisfied; better to be a Socrates dissatisfied than a fool satisfied".—'संतुष्ट सूअर होने की अपेक्षा, सुखी पशु होने की अपेक्षा, असन्तुष्ट और स्वतंत्र मनुष्य होना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। सन्तुष्ट मूर्ख होने की अपेक्षा असन्तुष्ट साक्रेटिस होना अधिक श्रेयस्कर है।' जॉन स्टुअर्ट मिल के इस वाक्य में मनुष्यत्व का रहस्य भरा हुआ है। यही मनुष्य का सत्त्व है।

चाहे अध्यात्म में हो, चाहे नैतिक क्षेत्र में हो, चाहे व्यावहारिक क्षेत्र में हो, मनुष्य को मनुष्यता उसकी स्वतंत्रता में है। इसीलिए वह अपने भले-बुरे कामों के लिए जिम्मेवार माना गया है। अपने भले-बुरे कामों के लिए देवता भी जिम्मेवार नहीं माना जाता, पशु भी जिम्मेवार नहीं माना जाता। मनुष्य-योनि, कर्मयोनि है। देव-योनि और पशु-योनि दोनों भोगयोनियाँ हैं। मनुष्य अपने जीवन में परिवर्तन कर सकता है। उसको बिगाड़ भी सकता है, उसको सुधार भी सकता है। यही इन्सान की शान है। मनुष्य को स्वतंत्रता जिस पद्धति में अधिक-से-अधिक सुरक्षित रहती है, उस पद्धति का नाम लोकतंत्र है। परन्तु साथ-साथ हम लोग यह भी जानते हैं कि मनुष्य जब भूखा होता है, तो वह अपने भगवान् को भी खा सकता है, खा लेता है। सारी पृथ्वी को खाने के लिए उद्यत हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में समस्या यह है कि क्या मनुष्य की स्वतंत्रता और मनुष्य का सुख एक ही पद्धति से सिद्ध हो सकता है? यह मनुष्य के पुरुषार्थ के लिए चुनौती है। कम्युनिस्ट छावनी कहती है कि सुख के लिए स्वतंत्रता का बलिदान देना होगा। लोकतंत्र की छावनी कहती है कि स्वतंत्रता के लिए सुख का बलिदान देना होगा। इस तरह का पोलराइजेशन है। ये दो ध्रुव बन गये हैं। क्या इन दोनों ध्रुवों का बनना आवश्यक है? क्या यह मनुष्य की बुद्धिमत्ता के लिए असंभव है कि स्वतंत्रता और समानता का समन्वय हो? यह चुनौती है। यही समस्या है।

स्वतंत्रता और समानता के समुच्चय की आवश्यकता है। मनुष्य सुखी भी

हो, और स्वतंत्र भी हो। उस पर अपनी स्वतंत्रता बेचने की नौबत न आये, जो पूँजीवाद के कारण लोकतांत्रिक देशों में आती है। लोकतांत्रिक देशों में लोकतंत्र का भी नीलाम होता है, क्योंकि सन्दर्भ पूँजीवाद का है। आज लोकतांत्रिक देशों में प्रतिनिधित्व बहुत महँगा है। प्रतिनिधित्व की कीमत बाजार में देनी पड़ती है। प्रतिनिधित्व भी आज नीलाम के लिए बाजार में खड़ा होता है। रिप्रेजेन्टेशन भी एक कमोडिटी है। उम्मीदवार का भी नीलाम होता है। इसका कारण यह है कि आज की जो लोकशाही है, वह लोकशाही अमीर की बेटी है। यह पूँजीवाद की बेटी है। तो अमीर की बेटी के कुछ लक्षण आज की लोकशाही में भी हैं। लक्ष्मी भी जब बाजार में बैठ जाती है, तब वह विष्णु की पत्नी नहीं रहती। बाजार में बैठी हुई लक्ष्मी 'गणिका' है। गांधी ने पार्लमेण्ट के लिए इस शब्द का 'हिन्द स्वराज्य' में प्रयोग किया। उसने पार्लमेण्ट को 'प्रास्टिट्यूट', गणिका कहा। एक स्त्री मित्र ने उनको लिखा कि आपकी भाषा सारी पुस्तक में बहुत सभ्यता की है, इस एक शब्द के सिवा। क्या इस एक शब्द को आप हटा नहीं सकते हैं अपनी पुस्तक में से ? वह अभद्र शब्द है, 'अन-पार्लमेंटरी' शब्द है। गांधी ने कहा कि तुम्हारा आग्रह है, तुम्हें खटकता है, तो मैं हटा सकता हूँ, लेकिन यह गाली नहीं है, यह वर्णन है। मैं सिर्फ वर्णन कर रहा हूँ कि प्रतिनिधित्व का नीलाम होता है, और पार्लमेंट का इस प्रकार से नीलाम होता है। वह संस्था बाजार में बैठी हुई है, और 'हाइएस्ट बिडर', जो सबसे ज्यादा बोली बोलता हो, उसके वश में वह चली जाती है। जितने मैनिफेस्टोज होते हैं, घोषणा-पत्र होते हैं, करीब-करीब नीलाम की बोलियों जैसे होते हैं। और इनमें से जो 'हाइएस्ट बिडर' होगा, जो यह कहेगा कि मैं इस जमीन को आसमान बना दूँगा, इस पृथ्वी को स्वर्ग बना दूँगा, इस चमन को बहिश्त बना दूँगा, उसको ज्यादा-से-ज्यादा वोट मिलते हैं। या फिर जिसमें वोट जुटाने की सिफत है, हिकमत है, तरकीब है, उसको अधिक-से-अधिक वोट मिलते हैं। वोट जुटाने में जो सिद्धहस्त होता है, माहिर होता है, उसका वर्णन मैंने किया था। वह गरीब से यह कहता है कि मैं अमीर से तुझे बचा लूँगा, मुझे वोट दे। अमीर से कहता है कि मैं गरीब से तुझे बचा लूँगा, मुझे पैसा दे दे। एक से पैसा ले लेता है, दूसरे से वोट ले लेता है। यह सिफत जिसमें है, वह चुनाव में जीत जाता है। तो चुनाव में जीत जाना सैल्समैन जैसी एक कला हो गयी है। वोट जुटाना भी चन्दा उगाहने जैसी एक कला हो गयी है। उसमें मतदाता का शिक्षण नहीं होता है। आप मतदाता को जागृत करना नहीं चाहते हैं, बल्कि आपकी कोशिश यह रहती

है कि वह गाफिल रहे तो ज्यादा अच्छा है। जितना वह पीनक में रहेगा, उतना वोट जुटा लेना आसान होगा। तो मनुष्यों को घेरना, उनको ललचाना, डराना, धमकाना, चकमा देना है—कई प्रकार, कई तरह की इसकी तरकीबें हैं, कलाएँ है। तो चुनाव में जीतना एक कला है। उसका प्रतिनिधित्व से अधिक सम्बन्ध नहीं है। ऐसी परिस्थिति में लोकतंत्र की जो चुनौती है, उस चुनौती का विचार करना है।

लोकशाही ही श्रेयस्कर

अध्ययन करने के बाद, और लगभग पचास वर्ष के सार्वजनिक जीवन के अनुभव के बाद मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि आधिदैविक की तानाशाही से शैतान की लोकशाही बेहतर है। रद्दी-से-रद्दी लोकशाही बढ़िया-से-बढ़िया तानाशाही से श्रेयस्कर है। क्योंकि इसमें कम-से-कम मनुष्य की मनुष्यता का संरक्षण है। अपने-आपको बिगाड़ने या बनाने की उसे आजादी है। और फ्रीडम का अर्थ यह है—'फ्रीडम इज ए डबल एजेड टूल'—स्वतंत्रता एक ऐसा हथियार है, जिसमें दोनों तरफ धार होती है। आप अपने को बिगाड़ भी सकते हैं और सुधार भी सकते हैं। 'फ्रीडम मीन्स द फ्रीडम टु कमिट एरर्स।' अगर गलती करने की आजादी नहीं है तो वह आजादी किस काम की ? गलती करने को भी आजादी होनी चाहिए। यही आज की हमारी सबसे बड़ी समस्या है। मनुष्य के लिए सबसे बड़ा संकट का काल तब आता है, जब वह अपनी मर्जी के मुताबिक चाहे जो कर सकता है। जब उसे कोई हुक्म देनेवाला नहीं है, उसका कोई मार्गदर्शन करनेवाला नहीं है, कोई उसका पुरखा नहीं, कोई अभिभावक नहीं। वह स्वतंत्र है, अकेला है, और अपनी निर्णय-शक्ति से ही उसे चलना होता है। यह लोकतंत्र है। 'अपील टु इनडिविजुअल जजमेंट एं रिस्पान्सिबिलटी।' लोकतंत्र में व्यक्तिगत निर्णय का और व्यक्तिगत दायि का महत्त्व है। इसीलिए लोकतंत्र दूसरे सारे तंत्रों से अधिक नैतिक है। इस नैतिकता अधिक है। और इसीलिए उसमें मनुष्य की प्रतिष्ठा अधिक-से-अधिक है। मनुष्य की इस प्रतिष्ठा को भी निबाहना है और मनुष्य को सुखी भी बनाना है। कौन बनायेगा ? जो दुखी है, वही अपने को सुखी बनायेगा। दुखी मनुष्य के पुरुषार्थ से ही दुःख का निवारण होना चाहिए, भूखे मनुष्य के पुरुषार्थ से ही भूख का निवारण होना चाहिए। और मैं ऐसा मानता हूँ कि यहाँ गांधी की असामान्य प्रतिभा का परिचय हमको मिलता है। जो भूखा था, उससे उसने कहा कि भूख का निवारण करने के लिए पुरुषार्थ करना है तो उपवास से आरंभ करना होगा।

स्वतन्त्रता और समानता का विकास

स्वतंत्रता और समानता का अगर यहाँ के लोकतंत्र में विकास करना हो तो क्या करना होगा ?

पहली चीज 'इनीशिएटिव्ह का', अभिक्रम का संविभाजन होना चाहिए। आज अभिक्रम (इनीशिएटिव्ह) स्वतंत्र प्रवृत्ति या तो नेताओं में है या शासकों में है, या फिर सन्तों में है। साधारण मनुष्य में अभिक्रम नहीं रह गया। अभिक्रम इसलिए नहीं रह गया है कि हमने—सबने मिलकर उससे यह कहा है कि तू तो बेचारा है, तू भोला-भाला है, तू तो समझता ही नहीं है। इस तरह इसे सजेशन कहते हैं, मनोविज्ञान में। उससे बार-बार यही कहा गया। तो अब वह यह समझता है कि मेरा जो सुख-दुःख है, उसके लिए जिम्मेवार दूसरा कोई है। मित्रो, उसे यह सिखाने की आवश्यकता है कि तेरे जीवन के लिए जिम्मेवार तू है, भगवान् भी नहीं। तेरा भाग्य तो जिम्मेवार है ही नहीं, लेकिन भगवान् भी जिम्मेवार नहीं है, जिम्मेवार तू है। अपनी जिम्मेवारी को महसूस कर। उस जिम्मेवारी को अपने जीवन में चरितार्थ कर। और उसके बाद जीवन भगवान् को समर्पित कर दे। खिला हुआ फूल भगवान् को समर्पित किया जाता है, मुरझाया हुआ निर्माल्य नहीं। यह उसे सिखाने की आवश्यकता है। इसलिए मैंने कहा कि 'इनीशिएटिव्ह' का संविभाजन हो। दूसरा संविभाजन इन्फ्लुएन्स का, प्रभाव का। आज प्रतिष्ठा उसकी है, जिसके पास सत्ता या धन है और प्रतिष्ठा उसकी है, जो कुलीन है। जन्म या कुलीनता की प्रतिष्ठा जाति की प्रतिष्ठा से अलग तरह की है। इसमें कुलाभिमान प्रधान है। ये सारी प्रतिष्ठाएँ मानव-विरोधी प्रतिष्ठाएँ हैं। मनुष्य की प्रतिष्ठा को क्षीण करनेवाली ये तीनों प्रतिष्ठाएँ हैं—पैसे की प्रतिष्ठा, कुल की प्रतिष्ठा या रक्त की प्रतिष्ठा और सत्ता की प्रतिष्ठा। ये तीनों प्रतिष्ठाएँ जिसमें नहीं हैं, उसे निरुपाधिक [illegible]व की प्रतिष्ठा होनी चाहिए, जिसके पास प्रतिष्ठा के ये तीनों साधन नहीं मनुष्य अपने में प्रतिष्ठित है, मनुष्य के नाते प्रतिष्ठित है, मनुष्य मनुष्य के [illegible] स्वतंत्रता का अधिकारी है, मनुष्य मनुष्य के नाते प्रतिष्ठा का अधिकारी है। [illegible] प्रभाव का, 'इन्फ्लुएन्स' का संविभाजन कहते हैं।

जब ग्रामदान प्राप्त करना होता है, तो हम गाँव में ऐसा आदमी खोजते हैं, जिसके पास पैसे की या जन्म की प्रतिष्ठा हो, या सत्ता की प्रतिष्ठा हो, या और किसी प्रकार की प्रतिष्ठा हो, किसी अखाड़े का उस्ताद ही क्यों न हो, डंडे की ही प्रतिष्ठा क्यों न हो। उसके कहने से जल्दी हस्ताक्षर मिल जाते हैं। ये जो हस्ताक्षर मिलते हैं, उन हस्ताक्षरों में, और आज जो असेम्बली में मेम्बरों के

हस्ताक्षर मिलते हैं, उन हस्ताक्षरों में कोई अन्तर नहीं है। ये मेम्बर्स आज एक कैबिनेट बना लेते हैं, और दूसरे दिन दूसरी तरफ हस्ताक्षर करके दूसरा कैबिनेट बना लेते हैं। मैं जब असेम्बली में था तो अविश्वास का प्रस्ताव पेश हुआ हमारे मंत्रिमंडल के विरुद्ध। हम लोग कोई होंगे, दो सौ या ढाई सौ। मुझे ठीक याद नहीं है। वे पौने दो सौ हस्ताक्षर लेकर आ गये अविश्वास के प्रस्ताव पर। अब मैं समझा कि अब तो यह पास ही होनेवाला है। लेकिन हमारा एक मिनिस्टर बड़ा तेज राजनीतिपटु था। वह दो सौ हस्ताक्षर लाया। अब आदमी तो कुल मिलाकर ढाई सौ ही थे और हस्ताक्षर पौने चार सौ हो गये। तो ये मानस-पुत्र कहाँ से आ गये ? ये कहाँ से आये होंगे, इसका विचार मैं करने लगा। तब से हस्ताक्षरों पर से मेरा विश्वास बिलकुल उठ गया है। मैं ऐसा मानता हूँ कि ये मेम्बर अदालत के ही काम के हैं, जहाँ मनुष्य शपथपूर्वक झूठ बोलता है। हम लोकतंत्र के संरक्षण के लिए, लोकतंत्र की भित्ति को पुख्ता बनाने के लिए अगर इस तरह के हस्ताक्षरों का उपयोग करेंगे, तो न तो इस देश में अध्यात्म रहेगा, न लोकतंत्र ही रहेगा। पारस्परिक वंचना और प्रवंचना के सिवा इस देश में कुछ नहीं रहेगा। फिर आप 'करप्शन' के खिलाफ हजार आवाज उठायेंगे, तो भी क्या होगा ? करप्शन तो पहुँच गया गंगोत्री में। गंगोत्री में ही जहर मिलाया गया है, यह कहना होगा। इसलिए मैंने कहा कि 'इन्फ्लुएन्स' सामान्य मनुष्य का हो, उसीका प्रभाव हो। प्रभाव का यही संविभाजन है। सामान्य मनुष्य आपका असामी नहीं हैं, क्लाएंट नहीं है। हमने सबने, कार्यकर्ताओं ने, पार्टी के वर्कर्स ने, नेताओं ने, उसको क्लाएंट माना है। यह जनता हमारी असामी है। इसको जितना जो मिला ले, उतना मिला ले। मेरे साथ ऐसा हुआ। हमारे कुछ साथी थे असेम्बली में। हम तो समझे कि वे सब बापू के आदमी थे तो बहुत अच्छे आदमी हैं। लेकिन उनमें कुछ दूसरे साथी भी आ गये थे। तो उन्होंने क्या किया ? उनमें से किसी एक का चुनाव था। तो मतदाताओं को स्टेशन से स्वागतपूर्वक ले आये। उनका आतिथ्य वगैरह किया। हमने कहा कि ये बड़े स्नेहशील आदमी हैं। इतने लोगों की आवभगत की। फिर एक मकान किराये का ले लिया और उसमें उनको रखा। उन्होंने कहा हमको नाश्ता करना है, नाश्ता तैयार, भोजन करना है, भोजन तैयार। वे कहें साहब हमको बाजार घूमना है, मोटरें तैयार, साथ में जाने के लिए आदमी तैयार। रात को उन्होंने कहा सिनेमा देखना है तो हम भी आपके साथ चलेंगे। यानी उन पर लगातार पहरा रहा, ताकि वे कहीं जा न सकें। वे समझ गये कि ये हमको घेरकर रखना चाहते हैं। तो उसमें से दस-पाँच आदमी अपने जूते छोड़कर भाग गये रात में,

जिससे पता न चले कि ये कहीं गये हैं। इस तरह से मनुष्यों को घेरकर जब हम उनसे वोट का, या ग्रामदान का, या कोई और काम कराना चाहते हैं, तो मनुष्य को अपमानित करते हैं। उसे स्वतंत्र पशु भी नहीं रहने देते। जंगल का जानवर भी नहीं रहने देते। उसे पालतू जानवर बनाते हैं। इसमें से मानवता का कोई मूल्य कभी विकसित नहीं हो सकता। इस चीज को हमें समझ लेना चाहिए।

लोकतन्त्र और ग्रामदान-आन्दोलन

साधारण आर्थिक क्षेत्र में हम कहते हैं कि दाम के लिए काम नहीं होना चाहिए। और क्रांति के क्षेत्र में अगर आप कहेंगे कि दाम ही के लिए काम होगा, तो आपकी क्रांति बिक जायगी और चाण्डाल के हाथ में चली जायगी, जिस तरह हरिश्चन्द्र को बिकना पड़ा था। इस बात को आज समझने की आवश्यकता है, क्योंकि मैंने यह माना है कि यह आन्दोलन लोकतंत्र की अन्तिम साँस है। भारतवर्ष में अगर लोकतंत्र टिकता है तो दुनिया में लोकतंत्र पनपेगा। भारतवर्ष में अगर लोकतंत्र की क्षति होती है, तो एशिया और अफ्रीका में लोकतंत्र को कदम रखने के लिए चप्पाभर जमीन नहीं रहने पायेगी।

हमारे आसपास अब कहीं लोकतंत्र नहीं है। और दो अधिनायक तंत्रों से हमारा अनबनाव है। पाकिस्तान एक आधिदैविक अधिनायकतंत्र है और दूसरा माओवादी चीन। ये दो अधिनायकतंत्र हमारे पड़ोस में हो हैं। जो यह सोचते होंगे कि हमारे देश में लोकतंत्र की जगह अधिनायकतंत्र हो सकता है, उनको यह खूब याद रख लेना चाहिए कि इस देश में अगर अधिनायकतंत्र होगा, चाहे वह कम्युनिज्म का ही क्यों न हो, वह पाकिस्तान और चीन की छत्रछाया में रहेगा। इस वस्तुस्थिति को हमने समझा नहीं है। इसलिए हमारे चित्त में जितनी वेदना होनी चाहिए, उतनी वेदना नहीं है। इस देश में या तो लोकतंत्र जीयेगा, या फिर कोई नहीं जीयेगा। क्योंकि अधिनायकत्व में अधिसत्ता, अधिराज्य चीन और पाकिस्तान का होगा।

यहाँ का लोकतंत्र यहाँ की सेना के भरोसे नहीं जी सकता है। यहाँ की सेना भी तो 'होमोजिनियस' नहीं है। हमने उसे 'होमोजिनियस' रहने नहीं दिया है। मातृभाषा के नाम पर, संस्कृति के नाम पर, सम्प्रदाय के नाम पर, हमने इस देश को बुरी तरह से बाँटा है। आपके ही बेटे, आपके ही भाई सेना में हैं। इस देश में कोई भी सैनिक अधिनायक नहीं हो सकता है। पढ़े-लिखे लोगों ने गहराई में जाकर नहीं देखा है। इसलिए इस देश में अगर आपको लोकतंत्र बचाना है, तो लोकतंत्र का जो अधिष्ठाता है, उसकी जो विभूति है मतदाता, उसको जागृत करना

होगा। इसलिए मैंने कहा कि अभिक्रम का संविभाजन होना चाहिए। प्रभाव का संविभाजन होना चाहिए और निर्णय की सत्ता का, निर्णयशक्ति का भी संविभाजन होना चाहिए। समस्याओं के सम्बन्ध में निर्णय करने की शक्ति साधारण मतदाताओं में आनी चाहिए।

निर्णय करने की यह शक्ति ग्रामसभा के द्वारा आप उपस्थित करना चाहते हैं। आज की जो पंचायतें हैं, उनमें विकेन्द्रीकरण निर्णय-शक्ति का विकास नहीं हुआ है। केवल सत्ता का औपचारिक विकेन्द्रीकरण निर्णय-शक्ति का विकास नहीं है। सत्ता बँट गयी, इतने से स्वतन्त्रता नहीं आती। ग्राम-स्वराज्य तब आयेगा, जब दायित्व, प्रभाव और निर्णय-शक्ति तीनों का संविभाग होगा। औपचारिक चुनाव से जो पंचायत बनती है, उसकी अपेक्षा स्वायत्त ग्रामसभाएँ, ऐसी ग्रामसभाएँ जो एक तरह से अपने-आप बनी हों, जिनमें स्वयं मतदाता ही सदस्य हैं उनके प्रतिनिधियों की जो बनी नहीं हैं, इस तरह से जो ग्रामसभाएँ बनती हैं, उन ग्रामसभाओं में निर्णय-शक्ति का विकास होने की संभावना अधिक है।

लोकतन्त्र की इकाई मनुष्य

लेकिन हम अगर कराना चाहें, तभी यह होगा। हम अगर कराना नहीं चाहेंगे, तो यह नहीं होगा। क्योंकि हमने इकाई गाँव को माना है, लोकतंत्र के विकास की इकाई। परन्तु वास्तव में लोकतन्त्र की इकाई मनुष्य है, वोटर है, कोई संस्था नहीं, कोई समुदाय नहीं, कोई गाँव नहीं। लोकतंत्र की इकाई तो मनुष्य है, लेकिन आपने एक क्षेत्र को इकाई माना है। आपने गाँव को प्रतिनिधित्व की इकाई माना है। लेकिन प्रतिनिधित्व की इकाई जो गाँव होगा उसमें औपचारिक स्वराज्य की स्थापना नहीं होनी चाहिए। यह जो ग्राम-स्वराज्य होगा, उसका मुख्य आधार होगा नागरिकों का परस्पर-प्रामाण्य। आज जो क्राइसिस है, जो संकट है, यह नागरिकों के पारस्परिक प्रामाण्य के अभाव का संकट है। एक का दूसरे पर कोई विश्वास, कोई भरोसा नहीं रह गया है। इन संविद्-सरकारों में कितनी पार्टियाँ शामिल हुई हैं, लेकिन उन पार्टियों का भी एक-दूसरे पर विश्वास नहीं है। कैसे कोई संगठित कार्य हो सकता है ? कोई सम्मिलित कार्य, कोई मिला-जुला काम, तब हो सकता है जब एक-दूसरे का भरोसा हो। जहाँ एक-दूसरे का भरोसा ही नहीं है, वहाँ काम हो ही नहीं सकता। पार्टियों के सह-अस्तित्व के लिए भी पार्टियों में आपस में सद्भाव और प्रामाणिकता की आवश्यकता है। 'गुडविल' और 'आनेस्टी'—प्रामाणिकता अगर पार्टियों में नहीं है, तो पार्टियाँ फंक्शन नहीं कर सकतीं, उनका

काम नहीं चल सकता। पार्टियाँ हों या न हों—लोकतंत्र के लिए पार्टियाँ अनिवार्य हैं या अनावश्यक हैं, इसका विचार आज हम नहीं करते, और करने की आवश्यकता नहीं है। यह किसी दूसरे प्रसंग में हम कर सकते हैं, लेकिन आज जो पार्टियाँ इस देश में हैं, उनमें अगर पारस्परिक ईमान नहीं है, पारस्परिक विश्वास नहीं है, तो ये पार्टियाँ एक साथ सरकार बनावें या विरोध में काम करें, ये जनता की शक्ति नहीं बढ़ा सकतीं, अपनी भी शक्ति नहीं बढ़ा सकतीं और लोकतंत्र की बुनियादें मजबूत नहीं कर सकतीं। यह स्थिति है आज इन पार्टियों की। क्या हम गाँवों में पारस्परिक विश्वास का बीजारोप कर सकते हैं? पारस्परिक विश्वास के बीजारोपण के लिए मनुष्य और मनुष्य के बीच में से स्वामित्व और संपत्ति का अंतराय हट जाना चाहिए।

सम्पत्ति और स्वामित्व का निराकरण

संपत्ति और स्वामित्व के निवारण के हमने आज तक तीन ही मार्ग देखे हैं। एक मार्ग है एक्सप्रोप्रिएशन। एक्सप्रोप्रिएशन से मतलब है प्रतिहरण। कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो में कहा है—'एक्सप्रोप्रिएटर्स शैल बी एक्सप्रोप्रिएटेड।' जो अपहर्ता हैं उनका अपहरण हो। यह एक तरीका है। दूसरा तरीका है कान्फिस्केशन। कानून से आप जब्त कर लेते हैं। अक्वायर कर लेते हैं। एक्वीजीशन कर लेते हैं। कानून से छीन लेते हैं। तीसरा तरीका है टैक्सेशन। कर इस प्रकार से लगाते हैं कि धीरे-धीरे स्वामित्व और सम्पत्ति समाप्त होती चली जाती है। लेकिन ये तीनों तरीके ऐसे हैं, जिसमें रेजिस्टेन्स पैदा होता है, प्रतिकार पैदा होता है। जिसके पास सम्पत्ति और स्वामित्व है, वह इन तीनों से बचने की कोशिश करता है। एक्सप्रोप्रिएशन से बचने की कोशिश करता है, कान्फिस्केशन से बचने की कोशिश करता है, और टैक्सेशन से भी बचने की कोशिश करता है। और जहाँ बचाव की कोशिश होती है, वहाँ अलगाव होता है। An attitude of defence isolates. प्रतिरक्षण की भावना मनुष्य को मनुष्य से अलग करती है। जिससे हम रक्षण चाहते हैं, उससे हम अलग रहेंगे। उसके नजदीक कभी नहीं जायेंगे। तो यह जो डिफेन्सिव एटीच्यूड है, बचाव का जो रुख है, इस रुख को हम समाप्त करना चाहते हैं। इसलिए हमने दान की प्रक्रिया को अपनाया है। दान को आप प्रतिसमर्पण कह सकते हैं, प्रत्यर्पण कह सकते हैं। शकुन्तला जब अपने घर चली गयी, तो कण्व ने सुख की साँस ली और कहा कि अब मुझे कैसा मालूम होता है—**'प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा'**। यह कन्या दूसरे का धन थी, उसको मैंने लौटा दिया, इस धरोहर को लौटा दिया है। और इस धरोहर को लौटाने पर जैसा मनुष्य सुखी शान्त

हो जाता है, उस तरह का मैं हो रहा हूँ। आज अमीरों के पास जो अमीरी है, मालिकों के पास जो मालकियत है, वह समाज की धरोहर है, इसको वे लौटा देते हैं, अपनी मर्जी से तो उनकी शक्ति और शान्ति दोनों बढ़ती है, चित्त का स्वास्थ्य, मनःस्वास्थ्य और शक्ति दोनों का विकास होता है। तो दान का यहाँ अर्थ है 'प्रत्यर्पण'। कन्यादान भी तो 'प्रत्यर्पण' है न ? वह भी दान कहलाता है। उसी प्रकार स्वामित्व और सम्पत्ति का प्रत्यर्पण किया, धरोहर लौटा दी। किसे लौटा दी ? समाज को लौटा दी। समाज की धरोहर थी, समाज को लौटा दी। अपनी मर्जी से जब वह लौटायी जाती है, तब उसकी शक्ति बढ़ती है। जो चीज जबरदस्ती से जाती है, वह चीज भी जाती है, और उसके साथ ताकत भी जाती है। अपनी मर्जी से जो चीज जाती है, उसमें चीज तो जाती है परन्तु ताकत नहीं जाती। बल्कि जानेवाली चीज शक्ति दे जाती है। तो साधारण मनुष्य की शक्ति के विकास का यह कार्यक्रम है।

ग्रामदान से लोकतन्त्र दृढ़ होगा

यह प्रक्रिया ऐसी है कि नागरिकों में पारस्परिकता बढ़े, और पारस्परिकता के साथ-साथ उनकी शक्ति का भी विकास हो। इसलिए हम इसमें लोकसत्ता की बुनियादों को और गहरी बनाते हैं। लोकसत्ता की बुनियादें आज से कहीं ज्यादा पोख्ता बनाते हैं—अगर ईमान से इस काम को करते हों तो। ईमान से नहीं करते हैं तो असेम्बली में और पार्लमेण्ट में जो हमको नकली लोकसत्ता दिखायी देती है, जाली लोकसत्ता दिखायी देती है, फर्जी लोकसत्ता दिखायी देती है, उसी तरह का यह हमारा ग्राम-स्वराज्य होगा। झूठ जितना बड़ा होगा, जितना बड़ा उसका आकार होगा, उतना वह सफल होगा यह मानना गलत है। फुटबॉल में हवा है, और छोटी गेंद में भी हवा है। फुटबॉल में अधिक हवा भरी होती है। उसका आकार देखने में गुब्बारे की तरह होगा। लेकिन एक सूई भोंकने से सारी हवा निकल जायगी। उसमें कोई दम नहीं है। इसलिए जब आप यह संकल्प कराते हैं तो आपको अपने भीतर इन संकल्पों का प्रत्यय होना चाहिए। संकल्प उधार नहीं लिया जाता है। जहाँ संकल्प उधार लिया जाता है, वहाँ जीवन उधार लिया जाता है। जहाँ जीवन उधार लिया जाता है, वहाँ जीवन की सारी प्रतिष्ठाएँ उधार ली जाती हैं। फिर क्रान्ति भी नकद क्रान्ति नहीं होती, उधार क्रान्ति होती है। इस दृष्टि से आप इस सारे आन्दोलन का विचार करें। इस दृष्टि से जब मैं विचार करता हूँ, तब मैं पाता हूँ कि आज इस देश में जड़मूल से अगर कोई आन्दोलन लोकसत्ता को स्थापित करने की कोशिश कर

रहा है, तो यह आन्दोलन है। इस आन्दोलन में यह कोशिश हो रही है कि लोकसत्ता की जड़ें मजबूत करें।

लेकिन यह मेरे और आपके ईमान पर निर्भर है। हम कहते हैं कि पार्टियों को अपने में 'कोड ऑफ कण्डक्ट' बनाने चाहिए। एक-दूसरे से ईमानदारी से व्यवहार करना चाहिए। यह सब हम पार्टियों से कहते हैं। लोग हमसे पूछ सकते हैं कि आपका क्या हाल है? आप क्या करते हैं? आपकी रचनात्मक संस्थाओं में तो आये दिन गबन के मामले हो रहे हैं। आपके ऊपर तो चाहे जैसे आरोप लगाये जा सकते हैं। आपके भण्डारों में तो खादी के स्टाक शार्ट (घट) हो जाते हैं। तो कौन-सी आपकी ऐसी संस्था है, जिस संस्था को हम लोकसत्ता के लिए नमूना मानें? नहीं, किसी संस्था को मान नहीं सकते। आपकी सारी-की-सारी संस्थाएँ कलुषित और भ्रष्ट हो गयी हैं। सारी-की-सारी संस्थाएँ अगर आपकी भ्रष्ट और नष्ट हो गयी हैं, तो फील्ड वर्क में हम कोशिश करें कि सचाई और ईमान बढ़े। क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष क्रान्ति का काम है।

लोकतन्त्र की बीमारियाँ

इसमें दूध के धुले हुए लोगों की आवश्यकता नहीं है। सत्कर्म से चित्त की शुद्धि होती है—लेकिन चित्त-शुद्धि के लिए कर्म किया जाय तो। चित्त-शुद्धि के लिए न करें तो—

'अन्यक्षेत्रे कृतं पापं, तीर्थक्षेत्रे विनश्यति।
तीर्थक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति।'

फिर चित्त-शुद्धि की कोई आशा नहीं। और यह आन्दोलन एक तीर्थ-क्षेत्र है, जिसे आपने चुन लिया है। बहुत बड़ी हिम्मत है। लोग कहते हैं कि जहाँ पर फरिश्ते जाने की हिम्मत नहीं करेंगे, वहाँ मूर्ख चला जाता है। कहीं ऐसा सिद्ध न हो। इसको गंभीरता से सोचने की आवश्यकता है—मेरे और आप सबके लिए। इसमें धोखा हम खानेवाले हैं। विनोबा के पास धोखा खाने की गुञ्जाइश नहीं है। यह आदमी ऐसा है कि उसके पास खोने के लिए कुछ है ही नहीं। साधु-सन्त फक्कड़ होते हैं। इनके पास इज्जत भी नहीं होती है खोने को। जहाँ अहंता हो, वहीं इज्जत का भान होता है। विनोबा तो एक क्षण में लँगोटी झाड़कर अलग हो सकता है, किसी दिन। जो आदमी घर-बार छोड़कर चला जाता है, वह क्या-क्या छोड़कर नहीं जा सकता है? हम और आप इज्जतदार आदमी हैं। हमारे घर है, बाल-बच्चे हैं। हमारे पास खोने के लिए बहुत कुछ है। उसके पास खोने के लिए लँगोटी भी नहीं है। इसलिए हमने बहुत बड़ी

हिम्मत की है, दुस्साहस किया है—एक तरह से। और आज दुस्साहस की ही आवश्यकता है। 'रेडिकल डिजीजेज रिक्वायर रेडिकल-रेमिडीज'—व्याधि जितनी दुर्धर होगी, उपचार भी उतना ही तीव्र चाहिए। तो यह उपचार ऐसा है, जिसके प्रयोग से लोकतंत्र की विश्वव्यापी व्याधि का निवारण हो सकता है। आज लोकतंत्र की यह व्याधि विश्वव्यापी है। लोकतंत्र में तीन व्याधियाँ होती हैं। अॅब्यूज, करप्शन और केयॉस। ये तीन व्याधियाँ दुनियाभर के लोकतंत्र में होती हैं। अधिकार का दुरुपयोग है अॅब्यूज। अधिकार के दुरुपयोग के लिए जब किसीसे घूस लेते हैं, रिश्वत लेते हैं, तो उसे करप्शन कहते हैं। और तीसरी चीज है केयॉस। केयॉस का अर्थ है अराजकता। आज हमारे देश में किसी क्षेत्र में कोई नियम, कोई अनुशासन नहीं रह गया है। मनुष्य जी रहे हैं, तो इसलिए जी रहे हैं कि मनुष्यों में एक साथ जीने की स्वाभाविक प्रेरणा है। इसमें शासन का, नेताओं का, प्रमुख नागरिकों का कोई कसूर नहीं है। थोड़ी-सी व्यवस्था रह गयी है तो यह उनके प्रयत्नों की कमी के कारण। ये तीनों चीजें आज हमारी लोकशाही में हैं। ये तीनों चीजें अगर बढ़ती गयीं, तो सन्निपात ही है। ये लोकशाही के कफ-वात-पित्त हैं। इनका प्रादुर्भाव आज इस देश में हो गया है। इसलिए आपसे निवेदन किया कि पार्टियों से आप कहिए और एक-दूसरे से कहिए। पार्टियाँ भी एक-दूसरी से कहें। हम सब एक-दूसरे से कहें, तो क्या होगा ?

एक संन्यासी और एक वेश्या आमने-सामने रहते थे। वेश्या का वह मकान जब संन्यासी देखता था तो बड़ा दुःखी होता था कि बेचारी का कैसा पापमय जीवन है, इसकी क्या दुर्गति होगी ? और जो उसके यहाँ जाते हैं, उनकी भी क्या दुर्गति होगी ? ये सब लोग नरक में जायेंगे। रात-दिन वह यही सोचता रहता। रात-दिन बस उसको यही चिन्ता थी। उधर वह वेश्या सोचती, यह संन्यासी कैसा सुखी है ? न घर है, न द्वार है, न किसी चीज की फिक्र है, लँगोटी की भी फिक्र नहीं। कैसा सुखी है ? भगवान् मुझे भी अगर ऐसा बनाता तो यह पेशा नहीं करना पड़ता पेट के लिए। बड़ी वेदना है, बड़ा दुःख है। संयोग से दोनों एक ही दिन मरे। संन्यासी को लेने के लिए यमदूत आये। संन्यासी ने कहा अरे यमदूत, तुम मुझे लेने के लिए आये ? जरूर कुछ गलती हो गयी है। वहाँ ऊपर कागज बदल गये होंगे। फिर से जाओ, पूछकर आओ। तुमको मुझे लाने के लिए कैसे भेजा जा सकता है ? और वहाँ उस वेश्या के लिए विष्णु-दूत आये हैं। जरूर कोई गलती हो गयी है। या तो गलती है या फिर वहाँ भी किसी-का वसीला, सिफारिश चलती है। वहाँ भी करप्शन होगा स्वर्ग में, और देवता तो करप्ट हैं ही। स्वर्ग में से देवता नीचे इसीलिए ढकेले जाते हैं न ? संन्यासी यमदूतों

से कहने लगा तुम उस वेश्या के यहाँ जाओ, विष्णु-दूतों को यहाँ भेजो। तब यमदूत उसे समझाने लगे कि तुम अपने शरीर को देखो। तुम्हारा शव पालकी में जा रहा है। फूल बरसाये जा रहे हैं। समाधि के लिए लाख रुपये की एक इमारत बनाने का संकल्प हो रहा है। बड़ी भारी सभा हो रही है, नारे लग रहे हैं, जुलूस निकला है। तुम्हारा शरीर पवित्र था। इसलिए उसकी यह इज्जत है। उस वेश्या के शरीर की गति देखो। गिद्ध खा रहे हैं, कुत्ता खा रहा है। कोई उसका शव उठाने के लिए तैयार नहीं है। उसका शरीर अपवित्र था। उसकी यह दुर्गति देखो। लेकिन तुम तो रोज उस वेश्या का ही ध्यान करते थे और उन पापियों का ध्यान करते थे, इसलिए तुम्हारे लिए यमदूत आये और उसके लिए देवदूत आये। क्योंकि वह तुम्हारे पवित्र जीवन का ही ध्यान करती थी। हम लोग, जो विनोबावाले लोग हैं, सर्व सेवा संघवाले लोग हैं, सर्वोदयवाले लोग हैं, दुनियाभर के पापों का ही ध्यान करते हैं। तो मुझे कुछ ऐसा मालूम होता है कि हम उन पापों के साथ तन्मय होनेवाले हैं। कंस तन्मय हो गया, कृष्ण का ध्यान करते-करते। यह विरोध-भक्ति कहलाती है। तो कहीं यह गति हमारी न हो ?

विधायक पुरुषार्थ की प्रक्रिया

सत्कर्म में अपने और दूसरे के दोषों के प्रति सावधानता तो अवश्य होनी चाहिए, परन्तु दोषों का ध्यान तो होना ही नहीं चाहिए, अपने भी दोषों का ध्यान नहीं होना चाहिए। मनुष्य को कार्यरत होना चाहिए। ध्यान किसीके दोषों का नहीं, अपने भी नहीं, दूसरों के भी नहीं। इसमें से चित्त-शुद्धि होती है। यही तटस्थता है। इसमें इतनी संभावनाएँ हैं—अगर हम और आप साबित हों तो। गांधी के जमाने में हम साबित इन्सान नहीं थे, आज भी नहीं हैं। लेकिन एक संकल्प उसने करा लिया था हमसे—अंग्रेजों को नहीं मारेंगे। बस, इतना ही। हममें क्रोध खूब था, असत्य भरपूर था, हिंसा रोम-रोम में भरी थी। लेकिन एक संकल्प था, अंग्रेजों को नहीं मारेंगे। उस एक मर्यादा का इतना प्रभाव पड़ा। हम लालची थे, डरपोक भी हम कुछ कम नहीं थे। रोते-रोते जेल में चले जाते थे। दूसरे ही दिन से जन्मपत्री देखते थे कि कब छूटनेवाले हैं। यह सब होते हुए भी एक मर्यादा का पालन किया कि माफी माँगकर नहीं छूटेंगे। भागने की चेष्टा नहीं करेंगे। उसमें से यह शक्ति पैदा हुई। आज उतनी मर्यादा से काम नहीं होनेवाला है, क्योंकि वह कार्य निषेधात्मक था, और यह कार्य विधायक है। यह क्रान्ति विधायक पुरुषार्थ की क्रान्ति है। पहले दिन मैंने आपसे कहा था कि आज

संसार में एक ऐसी प्रक्रिया की खोज है, जो प्रक्रिया साधारण मनुष्य के पुरुषार्थ के अनुरूप होगी। जिसमें शस्त्र, सम्पत्ति और सत्ता—तीनों शक्तियों के लिए कोई अवसर नहीं होगा। इस प्रकार की एक प्रक्रिया का प्रयोग आज विनोबा कर रहा है। इसीमें से दूसरे देशों के साथ हमारे सम्बन्धों में परिवर्तन होनेवाला है।

भारतवर्ष की स्थिति

आज दूसरे देशों के साथ हमारा सम्बन्ध कैसा है? आज हमारी कहीं वकत नहीं रह गयी है। न कोई हमसे प्यार करता है, न कोई हमसे डरता है। **'अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः'** द्रौपदी ने धर्मराज को धिक्कारा। तू मेरा पति है—अमर्षशून्य। कोई तेज नहीं, कोई आवेश नहीं तुझमें। ऐसा एक जन्तु है, ऐसा एक पशु है, ऐसा एक प्राणी है। तेरे प्रेम की किसीको कद्र नहीं है, तेरे क्रोध का किसीको डर नहीं है। इस तरह का तू 'इनडिफरेन्ट' मनुष्य है। ऐसे मनुष्य से क्या फायदा? आज भारतवर्ष की यह स्थिति है। अपने तीन पूर्वजों की परम्पराएँ हम बड़े शौक से चला रहे हैं। एक परम्परा भीख को चला रहे हैं—कि तू देगा तो तेरा भला होगा, और नहीं देगा तो तेरे ४२ पूर्वज नरक में जायेंगे। शाप की शक्ति भी तो नहीं है। असल में हमारे आशीर्वाद में भी शक्ति नहीं, और शाप में भी शक्ति नहीं है। लेकिन यहाँ का भिखारी हमेशा कहता रहा है कि जो देगा उसका भला हो और जो नहीं देगा उसको कोसेगा। इतना एक अंग भारतीय संस्कृति का हमने सुरक्षित रखा है। दूसरी दो चीजें और सँभाली हैं—एक महमूद तुगलक की और दूसरी शाहजहाँ की। महमूद तुगलक अपनी राजधानी बदलता था। तो हम वही करते हैं—नयी-नयी राजधानियाँ बनाते हैं या राजधानियों को बदलते हैं—दिल्ली की सरकार से लेकर सर्व सेवा संघ तक। इसके बाद परम्परा सँभाली है—शाहजहाँ की। वह इमारतें बनाता था। 'शाहजहाँ दि पैलेस बिल्डर।' तो यह रचनात्मक कार्य, निर्माण-कार्य सबसे अधिक चल रहा है। उन इमारतों में कोई रहनेवाले भी नहीं हैं। अभी गांधी निधि की बड़ी-बड़ी इमारतें जगह-जगह बन रही हैं। इमारतें बनने पर उनके साथ क्या किया जाय, यह समस्या है। आप देखिए जहाँ-तहाँ पर गांधी निधि की इमारतें बन रही हैं। विश्वविद्यालयों के गांधी भवन मकबरों की तरह सूने पड़े हैं। राजाओं के महल जैसे पड़े हुए हैं। ये तीन हमारे पूर्वज हैं, जिनका हमने उत्तराधिकार बहुत प्रामाणिकता से चलाया है—इस देश के भिखारी, महमूद तुगलक और शाहजहाँ।

हमारे संकल्प और सिद्धान्त

इस वृत्ति को आप किसी विधायक पुरुषार्थ में बदल देना चाहते हैं ? आज युग-पुरुष का प्रतिनिधि यह विनोबा आया है। कालात्मा का प्रतिनिधि कह लीजिए, लोकात्मा का प्रतिनिधि कह लीजिए। कालात्मा की आवश्यकताएँ, लोकात्मा की आकांक्षाएँ, इस पुरुष ने इस प्रक्रिया में अभिव्यक्त की हैं। इसलिए मैं समझता हूँ कि आज हमारे लिए बहुत बड़ा अवसर है। नहीं तो आज जो हमारी स्थिति है, वह अनुकम्पनीय है। जरा किसीने त्योरियाँ बदलीं—हमने दुहाई दी या तो अमेरिका की या रूस की। अपनी शक्ति कुछ रह नहीं गयी। संकल्प कितने महान् थे, क्या-क्या संकल्प नहीं थे ? हमने पहला संकल्प यह किया था कि उपनिवेशवाद का विरोध करें। दूसरा संकल्प हमने यह किया था कि वंशवाद का विरोध करें। काले-गोरे-पीले का भेद नहीं होने देंगे। तीसरा संकल्प हमने यह किया था कि अमेरिका की छावनी में नहीं जायेंगे, और रूस की छावनी में भी नहीं जायेंगे। हम स्वतंत्र रहेंगे, अलग रहेंगे, तटस्थ रहेंगे। चौथा संकल्प किया था कि उपनिवेशवाद से जो अफ्रीका और एशिया के देश अभिभूत थे, उनके आत्मगौरव को, उनके आत्म-प्रत्यय को हम बढ़ायेंगे, उनका संगठन करेंगे। पाँचवा संकल्प हमने यह किया था कि जहाँ-जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े होंगे, उन झगड़ों में हम बीच-बचाव करेंगे, मध्यस्थता करेंगे। क्योंकि ये हमारे सिद्धान्त थे न! 'लोकशाही के मूल्य' पहला सिद्धान्त था। 'व्यक्ति की प्रतिष्ठा' दूसरा सिद्धान्त था और तीसरा 'अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में कानून का गौरव'। ये तीन हमारे सिद्धान्त थे। इन सिद्धान्तों को लेकर हमेशा बीच-बचाव करेंगे। कोरिया में बीच-बचाव किया। और यह माना गया कि भारतवर्ष ऐसा नवीन उदीयमान राष्ट्र है, जो अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के मूल्यों को बदल देगा। इतनी आशाएँ हमारे विषय में उस वक्त पैदा हुईं। इसके बाद पाँचवाँ संकल्प हमने ऐसा किया कि हम एक ऐसा क्षेत्र बनायेंगे, ऐसे क्षेत्र का निर्माण करेंगे, जहाँ कोई युद्ध नहीं होगा। एशिया में एक धर्मक्षेत्र का निर्माण होगा, जो कभी कुरुक्षेत्र नहीं हो सकेगा। इसके बाद एक संकल्प हमने यह किया था कि सारी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को अगर हम समझौते से सुलझा सकेंगे तो दुनिया में से युद्ध का अन्त हो जायगा। शान्ति, विश्व-शान्ति की स्थापना हम कर सकेंगे। इतने संकल्प हमने किये थे, ये हमारे सारे मुख्य संकल्प हैं।

लेकिन ये किस भरोसे कार्यान्वित होंगे ? यह प्रश्न है। अगर इस देश की फौज का भरोसा हो, तो हालत यह है कि दूसरों की सहायता के बिना हम शस्त्रास्त्रों से भी सुसज्जित नहीं हो सकते हैं, और दूसरों की सहायता के बिना

खा भी नहीं सकते हैं। लोग यह कहते हैं कि **'आहारशुद्धौ, सत्त्वशुद्धिः।'** आहार अगर शुद्ध हो तो सत्त्व-शुद्धि होती है। यहाँ तो आहार ही हम भीख से खाते हैं। उस आहार में से कौन-सी सत्त्व-शुद्धि होगी ? कौन-से सत्त्व का विकास होगा ? यह परिस्थिति हमारी है। इसलिए सेना हम बढ़ायें, शस्त्र हम बढ़ायें। लेकिन सेना और शस्त्र तब तक कारगर साबित नहीं होंगे, जब तक जनता में पुरुषार्थ नहीं होगा। यह जनता आज कई तरह से बँटी हुई है। जनता में सम्प्रदायवाद है। जनता में भाषावाद है। इतनी भिन्न-भिन्न भाषाएँ होते हुए भी देश में किसी एक भाषा का माध्यम के रूप में विकास हो, इसके प्रति सबका विरोध है। अंग्रेजी के लिए सबका विरोध है। तो आन्तरप्रान्तीय जीवन विकसित हो नहीं सकेगा। ये सारे प्रत्यवाय हैं, जो जनता में शक्ति उपस्थित नहीं होने देते हैं। इसलिए विनोबा ने सोचा कि एक ऐसी प्रक्रिया का प्रयोग हम करें कि जिस प्रयोग में से साधारण मनुष्य के सत्त्व का विकास हो। एक वैज्ञानिक ने मनुष्य की परिभाषा की है। मैन इज द क्रिस्टलाइज्ड पोटॅन्सी ऑफ एक्जिस्टन्स—'जीवन के घनीभूत वीर्य का नाम मनुष्य है।' जीवन-वीर्य घनीभूत हो गया और उसका नाम मनुष्य रखा गया। इसमें मनुष्य की सम्भावनाओं का इंगित है। ये जो मनुष्य की सम्भावनाएँ हैं, इन सम्भावनाओं के लिए यहाँ अवसर है।

संयोजन गाँव का, विचार दिल्ली का

लेकिन इसके लिए गाँव का रूप बदलना होगा, उसका कायाकल्प कराना होगा। अम्बेडकर ने इन गाँवों का वर्णन इसीलिए किया कि ये तो डबरे हैं प्रतिक्रियावाद के, दकियानूसी मतों के, जातिवाद के। एक दूसरे सज्जन ने हमारे सारे जीवन का ही वर्णन कर दिया है। **"India is a land of collective filth and individual cleanliness"**—व्यक्तिगत स्वच्छता और सामुदायिक गन्दगी का नाम भारतवर्ष है। और यह व्यक्तिगत स्वच्छता भी क्या है ? कीचड़ में भी नहा लेगा तो भी कहेगा कि नहाया है। बगैर नहाये नाश्ता नहीं कर सकता। हमारे नहाने का कभी स्वच्छता के साथ तो सम्बन्ध रहा नहीं, शास्त्र के साथ रहा है। शास्त्र के लिए नहाते हैं, स्वच्छता के लिए थोड़े ही कभी नहाते हैं ? तो भी उसने कहा कि व्यक्तिगत स्वच्छता है और सामुदायिक अस्वच्छता है। यह वर्णन गाँवों के लिए भी लागू है। इन गाँवों का कायाकल्प कौन करेगा ? वे करेंगे, जो गाँवों में रहते हैं। सिस्टर निवेदिता नाम आपने सुना है न ! स्वामी विवेकानन्द की एक अमेरिकन शिष्या थी—मार्गरेट नोबल। उसने

'सिस्टर निवेदिता' नाम ग्रहण किया। सिस्टर निवेदिता ने भारतवर्ष की प्रतिभा, जीनियस के तीन लक्षण बताये। सेन्टीमेन्ट ऑफ फ्रैटर्निटी (बन्धुत्व की भावना); इंस्टिक्ट ऑफ सिन्थिसिस (समन्वय की सहज प्रेरणा) उसके लिए किसी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं। 'माइण्ड आफ कोआर्डिनेशन' (मनोवृत्ति, मानस, संगतिकरण का); जो भिन्न-भिन्न असंगत से प्रवाह जीवन में मालूम होते हैं, उन सबमें संगति-करण का प्रयास। यह वर्णन उसने भारतवर्ष की प्रतिभा का किया है। अगर भारतवर्ष की कोई विशिष्ट प्रतिभा है तो वह विशिष्ट प्रतिभा इन तीन चीजों में है। इनका विकास हमको ग्राम-स्वराज्य में करना होगा। ग्राम-स्वराज्य में इसलिए कि कल मैंने जैसे आपसे निवेदन किया था, रूरल और अर्बन, चीन की क्रान्ति के अनन्तर का हमारा यह क्रान्ति का प्रयास है। हमारी क्रान्ति ग्रामीण क्रान्ति होगी। मगर वह क्रान्ति नगर-विरोधी क्रांति नहीं होगी। आज संसार में दो तरह की बस्तियाँ हैं, अर्बन और रूरल—शहरी बस्तियाँ और देहाती बस्तियाँ। इन दोनों में आत्यन्तिक भिन्नता आज हमारे देश में है। कभी-कभी गाँव के लोग शहर का अनुकरण करते हैं। लेकिन इस अनुकरण में भी दोनों की निकटता नहीं है। इस निकटता का विकास गाँवों से होना चाहिए। गाँव के लोग शहर में आ जाते हैं, इससे शहर बढ़ता है, लेकिन गाँव का विकास नहीं होता, गाँव के लोगों का भी विकास नहीं होता। गांधी ने ग्रामों की तरफ विशेष ध्यान दिया और यह कहा कि ग्रामों का विकास होगा तो संस्कृति की जड़ को पोषण मिलेगा और जड़ को जब पोषण मिलेगा तो नवीन संस्कृति का विकास होगा। यह कौन-सी संस्कृति होगी ? रामगढ़-कांग्रेस में मौलाना साहब ने कुछ कहा था न ? मुस्तरका तहजीब—संयुक्त संस्कृति, समन्वित संस्कृति। यह समन्वित संस्कृति मानवीय संस्कृति है। आप इसका विचार कीजिये। इस देश के लिए यह बड़े गौरव की बात है। यहाँ जो अखिल भारत के नाप का मनुष्य होगा, वह विश्व के नाप का होगा। कन्याकुमारी से लेकर श्रीनगर तक, या हिन्दुकुश तक कहिए, और इधर द्वारका से लेकर सदिया तक—जिस मनुष्य को लोग जानेंगे, वह कम-से-कम एवरेस्ट की ऊँचाई का होगा। जिसका कद एवरेस्ट के नाप का नहीं होगा, उसको लोग देख ही नहीं सकेंगे। आज तो इस देश में, सन् १९४७ के बाद, बौने ही बौने पैदा हो रहे हैं। और रोज इनका कद घटता चला जा रहा है। ये ६ इंच के 'पिगमी' थे तो अब एक-एक, डेढ़-डेढ़ इंच के 'ड्वार्फ' बनना चाहते हैं। अपने-अपने जिले के नाप के, अपने-अपने थाने के नाप के और अब तो ग्रामदान के नाम पर अपने गाँव के ही नाप के बनते जायेंगे। और ये जाकर

दिल्ली में बैठेंगे। 'प्रासादशिखरस्थोऽपि काको न गरुडायते।' मंदिर के शिखर पर बैठ गया तो क्या कौआ गरुड़ बन जायगा? ये सारे के सारे दिल्ली में जाकर बैठ जायेंगे छोटे-छोटे दिल लेकर। समस्याएँ बड़ी-बड़ी, दिल छोटे-छोटे। यह तो ऐसा हो रहा है, जैसे किसीने हमको रहने के लिए महल दे दिया और हमारे दिल-दिमाग छोटे रह गये हों—चूहों जैसे। महल में भी चूहे तो बिल में ही रहते हैं। वह बिल्ली गयी थी न लन्दन के बकिंगहम पैलेस में? पूछा लोगों ने क्या देखा रानी साहब के उस महल में? कालीन देखे होंगे, पलंग देखे होंगे, आईने देखे होंगे? उसने कहा, "यह सब कुछ नहीं देखा। कुर्सी के नीचे दुबकती हुई एक चुहिया देखी। और देख ही क्या सकती थी? वह वही खोजने गयी थी। और कुछ देख ही नहीं सकती थी। इतना जिनका अल्प दर्शन होगा, इतना जिनका अल्प आशय होगा, ऐसे अल्प आशय के व्यक्ति अगर ग्रामदान करेंगे, गाँवों का विकास करेंगे तो मैं यह समझता हूँ कि आप दिल्ली को तो ले आयेंगे गाँवों में, लेकिन गाँव को दिल्ली तक नहीं ले जा सकेंगे। और अब तो गाँवों को दिल्ली तक ही नहीं ले जाना है, बल्कि क्षितिज तक ले जाना है। कुछ लोग यह कहते हैं कि केन्द्र दिल्ली नहीं होगा, केन्द्र गाँव होगा। मैं निवेदन यह करना चाहता हूँ कि इस देश के लिए अभी कई वर्षों तक इसकी आवश्यकता है कि केन्द्र गाँव भी हो, और केन्द्र दिल्ली भी हो। संयोजन गाँव का हो, लेकिन विचार दिल्ली का हो। तब आन्तरप्रान्तीय जीवन इस देश में सम्भव हो सकेगा। और तब हम उस शक्ति को उपस्थित कर सकेंगे, जिस शक्ति का ध्यान, मैं जान-बूझकर कह रहा हूँ कि उस शक्ति का ध्यान, हमारे पड़ोसियों को करना होगा। आज उनकी शक्ति का ध्यान हमको करना पड़ रहा है। उनकी शक्ति के ध्यान से हमारी शक्ति नहीं बढ़ती। लेकिन हमारी शक्ति शस्त्र-निरपेक्ष वीरता की शक्ति होगी। उस शक्ति की दीक्षा हमको गांधी ने दी है। आज उस शक्ति की परिपूर्ति विनोबा इस विधायक प्रयोग के द्वारा कर रहा है।

हम प्रयोगशील रहें

प्रयोग शब्द के आशय को हम समझ लें और उसको समझकर हम इस भाषणमाला का उपसंहार करेंगे। जिसमें असफलता का भय होता है, उसका नाम प्रयोग है। जहाँ असफलता का भय नहीं, वहाँ प्रयोग नहीं। वैज्ञानिक प्रयोगशील होता है। प्रयोगशीलता ही वैज्ञानिकता का मुख्य लक्षण है। और यदि आप इस प्रक्रिया को एक वैज्ञानिक और व्यावहारिक प्रक्रिया मानते हैं, तो यह प्रायोगिक प्रक्रिया है। इसलिए गांधी के विषय में मैंने हमेशा यह कहा कि गांधी योगी, त्यागी और जो कुछ भी रहा हो, गांधी के जीवन का रहस्य उसकी

प्रयोगशीलता में था। वह 'प्रयोगी' था। और प्रयोगी था, इसीलिए आग्रही नहीं था। जहाँ प्रयोग है, वहाँ आग्रह नहीं रह सकता। प्रयोग में विवेक और साहस की आवश्यकता है—विवेकयुक्त साहस। यह साहस अगर हम लोगों में होगा तो हमारी असफलता इस देश में लोकतंत्र को दो कदम आगे ले जायगी। दूसरों की सफलता लोकतंत्र की कब्र खोदेगी। दूसरों से मेरा मतलब कोई पार्टी वगैरह नहीं। दूसरों से मतलब वे, जो इन मूल्यों को नहीं मानते। जो इन मूल्यों को मानते हैं, प्रामाणिकता से अपने जीवन में उन्हें चरितार्थ करना चाहते हैं, उनकी असफलता भी इस देश के लिए उपकारक होगी। हम और कुछ नहीं बन सकेंगे तो भारतवर्ष में लोकसत्ता के आविर्भाव के लिए जमीन लीपने के लिए जो पोतना चाहिए वह 'पोतना' तो हम बन सकेंगे? आज झाड़ू और पोतनों की आवश्यकता है, कूड़ा-करकट, गन्दगी हटाने की आवश्यकता है। बुहारी और पोतना भी अगर विनोबा के ये कार्यकर्ता बन सकते हैं, तो मैं समझता हूँ कि इस देश का बहुत बड़ा कल्याण होनेवाला है। बम्बई में जो हमारे साथी हैं, एक तो अभी कल-परसों ही बेचारा जाता रहा, बहुत मामूली-से लड़के हैं। कहीं नौकरी करते थे, छोड़-छाड़कर आ गये, विनोबा के काम में लग गये। कौन उनको पूछता है? बिलकुल छोटे आदमी हैं दुनिया की नजर में। लेकिन डांगे से, एस० एम० से, गोरे से, या और किसीसे जब जाकर कहते हैं कि आप लोग एक साथ बैठकर विचार करें, समस्या अब पार्टी की नहीं है, जनता की हो गयी है, तो वह नेता कहता है, तुम बुलाओगे तो सब आयेंगे। हम एक-दूसरे के बुलाने से नहीं आते। मुझे इसमें गौरव अनुभव होता है। उनके बैठने का आसन अगर हम बन सकते हैं, तो बनना चाहिए। उसकी आज आवश्यकता है। मेरे एक मित्र का, मैंने जिक्र किया था, मर गये बेचारे। उनके घर के सामने से जब जाता था या वे हमारे घर के सामने से जाते थे तो बुलाकर कहते थे, "आपको क्या कमी है, जीत गये तो मिनिस्टर, हार गये तो गवर्नर। रिटायर हो गये तो वाइस-चांसलर। और कहीं के नहीं रहे तो सर्वोदय है ही।" किसी मर्ज की दवा अगर नहीं रह गये तो सर्वोदय है। हमेशा, बस इतना सुना देते थे और चले जाते थे। मैंने उनसे एक दिन कहा कि आप यह नहीं जानते कि जो 'वेस्ट' होता है, जो बेकार का कचरा फेंक दिया जाता है, उससे 'कम्पोस्ट' बनता है और इस कम्पोस्ट से पृथ्वी उर्वरा होती है। इस देश में ग्रामदान-ग्रामस्वराज्य का काम करनेवाले अगर इस भूमि को उर्वरा बनाने के लिए कंपोस्ट का भी काम दे सकें तो अपने-आपको धन्य मानना चाहिए। लेकिन वह कचरा भी कचरा तो हो, जिसका कंपोस्ट बन

सकता है ! उसमें भी रीयल स्टफ चाहिए, असलियत चाहिए। आवश्यकता असलियत की है, सचाई की है। भगवान् की कृपा से उस सचाई का एक शतांश भी अगर मेरे और आपके जीवन में चरितार्थ हो सकता है, तो यह मान लेना चाहिए कि आपका और मेरा जीवन धन्य होगा और भारतमाता का आज का जो दुर्भाग्य है, उस दुर्भाग्य को दूर करने में हम और आप थोड़े बहुत अंशभागी रहेंगे।

इस शिविर में मैंने सोचा था कि आदि से अन्त तक हर दिन आप लोगों की सेवा में बैठकर कुछ चर्चा भी कर सकूँगा और अपनी बात भी कह सकूँगा। मेरे दिमाग में कुछ अव्यवस्था है। इसलिए जो समय था, उस समय का और जो विषय थे, उन दोनों का मेल नहीं बैठा सका। तो विषय भी कुछ अधूरे रह गये और चर्चा तो हो ही नहीं सकी। बीच में कुछ मेरी अक्षमता के कारण एक-दो दिन पूरा समय भी मैं नहीं दे सका। मेरा यह सद्भाग्य था कि आप लोगों के साथ यहाँ सात रोज तक मैं बैठ सका। दुर्भाग्य यह रहा कि मैं आप लोगों के साथ नहीं रह सका अपनी कुछ कमजोरियों के कारण। इन सबके लिए मैं क्षमा चाहता हूँ, आप लोगों को, सबको बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ और नमस्कार करता हूँ।

राँची-शिविर
१५-१-'६८

लेखक की अन्य रचनाएँ

सर्वोदय-दर्शन

'सर्वोदय' केवल शब्द और विचार नहीं, एक समग्र जीवन-दर्शन है। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, नीतिगत आदि अनेक पहलुओं से तटस्थ वैज्ञानिक की भाँति दादा धर्माधिकारी ने इस ग्रन्थ में सर्वोदय की शास्त्रीय व्याख्या की है। अनेक ग्रन्थियों, कुण्ठाओं, भ्रान्तियों को खोलनेवाली यह पुस्तक है। पाँचवाँ संस्करण। पृष्ठ ३२०, मूल्य ५.००।

अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया

लेखक की यह कृति करुणामूलक साम्ययोगप्रधान अहिंसक क्रान्ति के समझने के लिए अप्रतिम है। क्रान्ति और सो भी अहिंसक। अहिंसा की जीवनव्यापी विराटता और उसके लिए शक्ति-स्रोतस्विनी, बलदायिनी, विधायक, लोकनिष्ठ, विभूतिमय क्रान्ति की प्रक्रिया को समझने के लिए हर व्यक्ति के काम की दिशाबोधक रचना। दूसरा संस्करण। पृष्ठ ३२८, मूल्य ४.००।

स्त्री-पुरुष सहजीवन

स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध, व्यक्तित्व, उत्तरदायित्व, धार्मिक विधि-विधानों की खींचतान, परिभाषाओं की सूक्ष्म आलोचना, परस्पर विरोधिता आदि का शास्त्रीय, वैज्ञानिक, भावनागत और मानवनिष्ठ विवेचन। दृष्टान्तों के प्रकाश में जीवन का मूल्यांकन। तीसरा संस्करण। पृष्ठ १८०, मूल्य २.५०।

लोकनीति-विचार

राजनीति और समाजनीति के क्षेत्र में 'लोकनीति' अब अनबूझ पहेली नहीं रह गयी है। राजनीति के ऐतिहासिक विकासक्रम में 'लोकनीति' अद्यतन विचार-प्रक्रिया है, जो हमें साम्ययोग तक ले जाती है। लोकनीति क्या है, उसकी उपयोगिता क्या है, उसका ध्येय क्या है और वह समाज को किस मंजिल तक ऊपर उठाती है, इन सब बातों का वैज्ञानिक विश्लेषण दादा ने अपनी मनोरम शैली में किया है। यह पुस्तक विचार-क्षेत्र में क्रान्ति लानेवाली है। पृष्ठ १२८, मूल्य २.००।

सर्व सेवा संघ प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी